गुणस्थान का अध्ययन

डॉ. दीपा जैन

एम. ए. जैन दर्शन एवं प्राकृत भाषा

विद्यावाचस्पति- प्राकृत भाषा

डिप्लोमा - सहकारिता प्रबंध

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

क्रम	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1.	गुणस्थानः ऐतिहासिक पक्ष तथा गुणस्थान से जुड़े तत्त्व चिंतक घटकों का विश्लेषण	5-20
2.	गुणस्थान का स्वरूपः चौदह गुणस्थान	21-64
3.	गुणस्थान एवं मार्गणाएं	65-77
4.	गुणस्थान व अनुयोग द्वार चिन्तन	78-84
5.	गुणस्थान एवं कर्म-सिद्धान्त	85-99
6.	तत्तवार्थ सूत्र में निहित गुणस्थान अभिगम की समीक्षा	100-108
7.	द्रव्यसंग्रह में गुणस्थानक सिद्धान्त	109-114
8.	गुणस्थान का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	115-132
9.	प्रमुख भारतीय दर्शनों में गुणस्थानक स्थितियों का तुलनात्मक विश्लेषण- (अ) गीता और गुणस्थान (135-142) (आ) बौद्ध दर्शन और गुणस्थान(143-149) (इ) योग परम्परा में वर्णित आध्यात्मिक विकास और गुणस्थान (150-159) (ई) वर्ण व्यवस्था में निहित आध्यात्मिक विकास के प्रतिमान एवं गुणस्थान (160-164)	133-164
	उपसंहारःमानवीय मनो-सामाजिक उपादेयता की विकास यात्रा पथ में..... गुणस्थान अध्ययनः	165-166
	पारिभाषिक शब्द	167-169
	संदर्भ सूची	170-177

आभार दर्शन

भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान गोविन्द से पहले आता है क्योंकि लक्ष्य सिद्धि की राह में एकमात्र गुरु ही सच्चा पथ-प्रदर्शक व सहायक सिद्ध होता है। इस नाते मैं सर्वप्रथम अपने शोध-निर्देशक डॉ. दीनानाथ शर्माजी का सविनय श्रद्धापूर्वक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने न सिर्फ मुझे इस शोध कार्य का अवसर प्रदान करके उपकृत किया है अपितु इस शोध साधना में आपने अपना अमूल्य समय व यथोचित मार्गदर्शन प्रदान कर शोध कार्य को समग्रता प्रदान की है। मैं जीवनभर इनकी ऋणी रहूँगी।

मैं श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए उन सभी धर्माचार्यों के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूँ जिन्होंने इस विषय से जुड़ी अवधारणाओं के संदर्भ में प्रत्यक्ष विचार-विमर्श के द्वारा विभिन्न रहस्यों को उजागर करके मेरे शोध कार्य को सही दिशा में बढाने में मदद की है।

मैं मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के प्राकृत भाषा एवं जैन दर्शन विभाग के सह-प्राध्यापक डॉ. जिनेन्द्र जैन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर हर्ष का अनुभव कर रही हूँ जिन्होंने मेरी विद्यावाचस्पति की मौखिक परीक्षा के समय इस शोध कार्य को प्रकाशित करने की अनुशंसा की और इसके पश्चात भी समय समय पर सहज रूप से अपना बहुमूल्य मार्गदर्शन प्रदान किया।

मैं अपने जन्मदाता पूजनीय माता-पिता श्रीमती रैन मंजूषा देवी- श्री विजय स्वरूप जैन तथा सभी बुजुर्गों का उनके स्नेहाशीष के लिए अंतःकरण से आभार व्यक्त करना नैतिक कर्तव्य समझती हूँ जिन्हें मेरे कुछ नया करने पर अपार खुशी मिलती है उनका यही हर्षोल्लास मेरे लिए आशीर्वादरूप साबित हुआ है।

मैं अपने सदा-सहयोगीवृत्ति रखने वाले पति श्री अमिताभ जैन व बेटी अरिना जैन की तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ जिन्होंने सदैव मेरी परिस्थितियों व जरूरतों के अनुकूल रहने में कभी कृपणता नहीं बताई। आपकी इस सामन्जस्यपूर्णवृत्तिजनित सहजता व आत्मीयता ने मुझे कार्य करने की जो ऊर्जा व प्रेरणा प्रदान की है उसे मेरे लिए शब्दों में व्यक्त कर पाना संभव नहीं है।

सभी स्नेहिल भाई - भाभी डॉ. लोकेश - मीनू, सोनेश - रश्मि, भतीजे-भतीजी इशिका, ईशान व अंशिका एवं अंजिका का भी आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिनके प्रत्यक्ष व परोक्ष सहकार से मैं इस शोध कार्य को पूर्ण कर सकी।

मैं गुजरात विद्यापीठ ग्रंथालय, अहमदाबाद, जैन महावीर आराधना केन्द्र ग्रंथालय -, कोबा-गाँधीनगर के सभी सदस्यों का आभार व्यक्त करना नहीं भूल सकती जिन्होंने हर प्रकार की उपयुक्त सामग्री उपलब्ध कराने में सदैव तत्परता दिखाई है।

मैं उन सभी मित्रों व हितेषियों का आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ जो इस कार्य में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सहयोगी सिद्ध हुए हैं किन्तु किन्हीं कारणोवश जिनका नामोल्लेख यहाँ संभव नहीं हो सका है।

अंत में मैं परम पिता परमेश्वर व विद्या की देवी माँ सरस्वती का आभार मानते हुए स्वयं को कृतज्ञ मानती हूँ जिनकी अनुकम्पा के बिना इस शोध-साधना की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

मैं अपनी अज्ञानता या संगणक की भूलों के लिए सुधी पाठकगणों के प्रति क्षमा याचना करना चाहती हूँ तथा सुझाव आमंत्रित हेतु हार्दिक अपील करती हूँ।

- **दीपा जैन**

अध्याय- 1

गुणस्थान

(ऐतिहासिक पक्ष तथा गुणस्थान से जुड़े तत्त्व चिंतक घटकों का विश्लेषण)

भूमिका

विश्व के सभी धर्मो एवं विचारधाराओं में भारत के धर्मों एवं विचारधाराओं की एक विशिष्ट महत्ता है। भारतीय चितंन परम्परा मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है- वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा। वैदिक परम्परा प्रवृत्तिमार्गी है इसमें यज्ञ यज्ञादि करके इष्टदेवों को प्रसन्न कर आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के साथ-साथ भौतिक सुख की भी कामना की जाती है। पूरा वैदिक वाङमय इसी पर केन्द्रित है। इसके दो भाग हैं- कर्मकांड और ज्ञानकांड। कर्मकांड यज्ञादि की विधि-प्रविधि का विवरण देते हैं। इसमें देवों को प्रसन्न कर भौतिक और आध्यात्मिक सुख पाने की चेष्टा की जाती है जबकि ज्ञानकांड में जीव, परमात्मा जगत, जीव का जगत विशाद संबन्ध इत्यादि विषयों पर चितंन किया जाता है तथा श्रमणपरम्परा पूर्णरूप से निवृत्तिमार्गी है । इसमें मुख्यरूप से दो धर्मों का समावेश होता है- जैनधर्म और बौद्धधर्म। वैसे तो महावीर स्वामी के समय में 356 धर्म- सम्प्रदाय विद्यमान थे। ये दोनों ही धर्म मुख्य रूप से इस संसार को छोड़कर जन्म और मरण के चक्र से छुटकारा पाकर चिरस्थाई सुख की प्रप्ति के लिए प्रयत्न करने में विश्वास करते हैं जिसे मोक्ष कहा जाता है। विशेष रूप से जैन परम्परा यह मानती है कि संसार में जीव का आना पूर्व-जन्म का परिणाम है। जीव जब तक संसार में रहेगा तब तक शास्वत सुख की प्राप्ति नहीं होगी मोक्ष पाकर ही उसे शास्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है मोक्ष ही चरम लक्ष्य है। इस चरम लक्ष्य को पाने के लिए जैन मनीषियों ने छः द्रव्य कहे हैं- जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। यह ब्रहमांड दो भागों में विभक्त है- लोकाकाश और अलोकाकाश। ये छहों द्रव्य लोकाकाश में पाये जाते है। इस जगत में सात तत्त्व होते हैं- जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। गुणस्थानों की गति के साथ इनका सह-सम्बनध देखने को मिलता है।

गुणस्थान का ऐतिहासिक पक्ष

गुणस्थान आध्यात्मिक विकास यात्रा के सोपानों का एक क्रमबद्ध समुच्चय है जिसमें गुणस्थान के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्ष तथा कर्म एवं कर्मफल आदि के प्रतिमानों की स्पष्टता की गई है। भारतीय दर्शन के लगभग हर प्रमुख दर्शन में आध्यात्मिक उन्नति की सैद्धान्तिक स्थितियों को समझाया गया है। गुणस्थान एवं उसमें वर्णित 14 स्थितियों को जैन दर्शन में स्थान मिला है। इसकी दो प्रमुख परम्पराएं हैं- श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा में 14 आवश्यक निर्युक्तियां अस्तित्व में है किन्तु गुणस्थान का उल्लेख नहीं मिलता है। 7वीं सदी की कृति 'आवश्यक चूर्णि" में सर्व प्रथम इसका जिक्र किया गया है। समवायांग में 14 स्थितियों का उल्लेख है किन्तु उसे <u>जीवठाण</u>

या जीव स्थान कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में आगम ग्रंथ प्राचीन माने जाते हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द कृत अष्ट पाहुड़, समयसार, प्रवचन सार, दर्शन सार, षट्खण्डागम (धवला टीका), मूलाचार, भगवती आराधना, नेमीचन्द्र कृत गौम्मटसार, द्रव्य संग्रह, उमास्वामिकृत तत्वार्थसूत्र , पूज्यपाद देवनन्दीकृत सर्वार्थसिद्धि, भट्ट अकलंक का राजवार्तिक, विद्यानन्दजीकृत श्लोकवार्तिक तथा दर्शनसार आदि प्रमुख ग्रंथ इसी परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं। इन सभी में आध्यात्मिक विकास के कुछ न कुछ घटकों या अंशों की चर्चा की गई है यहाँ तक कि गुणस्थान सिद्धान्त में प्रयुक्त शब्दावली उपशम, क्षय, क्षीणमोह, सूक्ष्म सम्पराय, कषायचतुष्क, भावों, जीवत्व आदि का प्रयोग इनमें हुआ है लेकिन गुणस्थानों या 14 भूमियों/पर्यायों को लेकर षट्खण्डागम के सिवाय अन्यत्र समन्वित स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। यद्यपि इसमें गुणस्थान को जीव समास (जीव की अवस्था/पर्याय) कहा गया है।

तत्त्वार्थसूत्र में सात नयों(नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समिभिरूढ़ एवं एवंभूत) वर्णित हैं। जीवसमास में अंतिम दो नयों का अल्लेख नहीं है। वहीं सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को अस्वीकार करते हुए समभिरूढ़ एवं एवंभूत के साथ इनकी संख्या 6 मानते हैं। इससे प्रतीत होता है कि नयों की अवधारणा छठी सदी के उत्तरार्ध में विकसित हुई है और जीवसमास इससे पूर्व। जबकि गुणस्थानों के आधार पर अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों की अवधारणा ज्यों की त्यों देखने को नहीं मिलती जबकि जीव समास में है। षट्खण्डागम में भी पाँच नयों का उल्लेख है। गुणस्थान की अवधारणा लगभग पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध और छठी सदी के पूर्वार्द्ध में कभी अस्तित्व में आयी होगी ऐसा माना जा सकता है। इस समय में जीवस्थान, गुणस्थान व मार्गणास्थान का एक दूसरे से पारस्परिक सह सम्बन्ध निश्चित हो चुका था।

गुणस्थानों की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है तथापि प्रचीन स्तर के जैनागमों - आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक व भगवती आराधना आदि में इस सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है । सर्वप्रथम चौदह गुणस्थानों को समवायांगसूत्र में मात्र जीवस्थान (जीवठाण) के नाम से तथा षट्खण्डागम में गुणस्थान के नाम से जाना गया है। जीवसमास उस प्रारम्भिक काल की रचना है जब गुणस्थानों की अवधारणा जीवसमास के नाम से प्रारम्भ होकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अपना स्वरूप ले रही थी।

कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाण पण्णत्ता तं जहा मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, अविरयसम्मादिट्ठी, विरयविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टिबायरे, अनिअट्टिबायरे, सुहमसंम्पराए, उवसामए वा खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली, अयोगी केवली।।

समवायांग- सम्पादक मधुकर मुनि

मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिट्ठीय।
अविरसंसम्मदिट्ठी विरयाविरए मत्ते य।।
तत्ते य अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे।
उवसंत खीण मोहे होइ सजोगी अजोगी य।।

निर्युक्तिसंग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति) पृ. 149

तत्थ इमातिं चोद्दस गुणट्ठाणाणि... अजोगिकेवली नाम सलेसीपाडिवन्नओ, सो य तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघङ इच्चेताइं पंचहस्सक्खराइं उच्चरिज्जंति एवतियं कालमजोगिकेवली भावितूण तोहे सव्वकम्मविणिमुक्को सिद्ध भवति।।

आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि) उत्तर भाग, पृ. 133-136

एदेसि चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाण परुवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि यव्वाणि, भवंति मिच्छदिट्ठि....सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धआ चेदि।।

-षट्खण्डागम (सत्प्ररुपणा) पृ,154-201

मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सा असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो।।
एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्ठी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणे अजोगी य ।।
सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु झाण पंचेव।
मंणुदीएवि तहा चोद्दसगुणणामघेयाणि।।

-मूलाचार (पर्याप्त्याधिकार) पृ. 273-279

अध खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधु अपुव्वकरणं सो।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति।
अणिवित्तिकरणणाणं णवमं गुणठाणयं च अधइगम्म।
णिद्दाणिद्दा पयला पयला तध थीणगिद्धि च ।।

-भगवती आराधना, भाग-2 पृ. 890

समयावांग के पश्चात श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आवश्यकनिर्युक्तियों में इनका उल्लेख मिलता है किन्तु इनमें भी इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान कहा गया है।

दिगम्बर की अचेल परम्परा में कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम, मूलाचार भगवती आराधना, देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका, भट्ट अकलंक का राजवर्तिक, विद्यानन्दी के श्लोकवर्तिक में इस सिद्धान्त का उल्लेख है। तत्त्वार्थसूत्र में इन नामों का उल्लेख न होना आश्चर्य का विषय है यद्यपि नवें अध्याय में कर्म निर्जरा के रूप में आत्मविशुद्धि की स्थितियों का उल्लेख है। यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में तीसरी व चौथी सदी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। पाँचवी सदी में यह सिद्धान्त पहले जीवस्थान या जीव समास के नाम से अस्तित्व में आया । मूलाचार में गुणस्थान के लिए गुण का प्रयोग किया गया है। भगवती आराधना में ध्यान के प्रसंग में चौदह में से सात गुणस्थानों का वर्णन है। देवनंदी की सर्वार्थसिद्धी टीका में सत्प्ररूपणा के माध्यम से मार्गणाओं व मार्गणा के संबन्ध में चर्चा की गई है।

षट्खण्डागम समान्य शौरसेनी व गद्य में तथा जीवसमास महाराष्ट्री प्राकृत व पद्य में रचित है। षट्खण्डागम व जीवसमास में आठ अनुयोग द्वार हैं। शवेताम्बर परम्परा के आगम प्रधान ग्रंथों में मार्गणा व गुणस्थानों का उल्लेख नहीं मिलता है जो दिगम्बर परम्परा में है। जैन परम्परा में अंगधरों के समान ही पूर्वधरों की एक स्वतंत्र परम्परा रही है और कर्म साहित्य विशेष रूप से पूर्व साहित्य का विशेष अंग रहा है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में गुणस्थान अभिगम की उपस्थिति की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दिगम्बर - श्वेताम्बर दोनों ही जैन सम्प्रदायों के प्रमुख प्राचीन ग्रंथों में इन 14 स्थितियों का गुणस्थान के रुप में उल्लेख न होंना इस अवधारणा की इन ग्रथों से प्राचीन होना दर्शाता है। किन्तु समान शब्दावली की अनुप्रयुक्ति यह सम्बन्ध स्पष्ट करती है कि गुणस्थान की रचना छठी शताब्दी के पूर्व की है एवं आगम के समकालीन रही है। इस समय के पश्चातवर्ती ग्रंथों में 14 गुणस्थानों का किसी न किसी रुप में जिक्र होना भी यही सिद्ध करता प्रतीत होता है।

श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थान शब्द सर्व प्रथम आवश्यक चूर्णि - सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थ भाव्यवृति, हरिभद्र की आवश्यकनिर्युक्ति टीका (जो 8वीं के पूर्व तक की रचना है) में प्रयोग हुआ है।

दिगम्बर परम्परा में पाँचवी-छठवीं सदी के प्रमुख ग्रंथ षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना हैं जिनमें गुणस्थानों की उपस्थिति है। 14 गुणस्थान व्यवस्थित स्वरूप में षट्खण्डागम में मिलते हैं भले ही उन्हें जीवसमास कहकर सम्बोधित किया हो। मूलाचार में 14 गुणस्थानों के गुणनाम है। पूज्यपाद देवनन्दीजी की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी इन गुणस्थानों (गुणट्ठाण) का विस्तृत उल्लेख है इसमें 14 मार्गणाओं और गुणस्थान के सम्बन्ध

को लेकर विस्तार से वर्णन है। आचार्य कुन्द- कुन्द के कसाय पाहुड़ में इसकी चर्चा नहीं है किन्तु उनकी अन्य कृतियों- नियमसार और समयसार में मग्गणाठाण, गुणठाण व जीवठाण शब्दों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। यथा –

जीवस्थान = **जीवों के जन्म ग्रहण करने की योनियां** हैं। ये आगे जाकर गुणस्थान व जीवठाण दोंनों प्रथक स्वरूप में विकसित हुए ।

गुणस्थान = यह **जीव पर्याय के गुण तथा उसका कर्म सम्बन्ध** आदि के अध्ययन की विशिष्ट विषय–वस्तु बनने लगा।

आचार्य हरिभद्र ने स्पष्ट किया है कि आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाएं उसकी मूल गाथा नहीं है वे संग्रहणी से लेकर प्रक्षेपित की गई है। लगभग पाँचवी शताब्दी के अंत तक गुणस्थान का स्वरूप स्पष्ट हो गया था। इसमें कर्मबंध, उदय, उदीरणा की गणना (नियम सिद्धान्त) भी स्पष्ट किए गये। समवायांग में मार्गणाओं की विस्तार से चर्चा हुई है। उमास्वामि कृत तत्त्वार्थसूत्र में कर्म निर्जरा की 10 अवस्थाओं व बन्ध के स्वरूप आदि की तत्त्व-जनित चर्चा हुई जिसके चलते गुणस्थान कर्म विशुद्धि विश्लेषण के चरम तक पहुँचा।

जीवसमास - गुणस्थानक विषयवस्तु-

जीवसमास के ग्रंथकार कौन थे यह तो स्पष्ट नहीं है। इसका ज्ञान 8वीं सदी के आचार्य हरिभद्र को भी नहीं था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (5वीं सदी की रचना) में आगम-ग्रंथों का उल्लेख है किन्तु जीवसमास का नहीं फिर भी इसकी विषयवस्तु के आधार पर इसे पूर्व साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ अवश्य माना जा सकता है। जीवसमास अर्थात जीवों की विभिन्न अवस्थाएं। जिन सात नयों की चर्चा पू. उमास्वामीजी ने तत्वार्थ-सूत्र (जिसे छठी सदी की रचना माना जाता है) में की है वे मूल में पाँच हैं- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। गुणस्थान के समानार्थी जीवसमास नामक ग्रंथ में इन्हीं पाँच नयों की अवधारणा को उल्लखित किया गया है। इस दृष्टि से जीवसमास का रचना काल 5वीं से छठी सदी के मध्य का माना जा सकता है। ज्ञातव्य है कि जीवसमास के ही प्रमुख घटकों को गुणस्थान के रूप में प्रस्तुत किया गया।

<u>तत्त्वार्थसूत्र और गुणस्थान</u>

जैन दर्शन में उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को कर्म विशुद्धि का विवेचन करने वाला एक प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। गुणस्थान सिद्धान्त की भाँति इसमें भी कर्मों के क्षय और उपशम की बात की गई है फिर भी कुछ भिन्नताएं दिखती हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कर्म विशुद्धि की 10 अवस्थाएं मानी गई हैं जिनमें से प्रथम पाँच का सम्बन्ध दर्शनमोह तथा अंतिम पाँच का सम्बन्ध चारित्रमोह से है। तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय को ध्यान में रखतें हुए यदि गुणस्थान का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि आध्यात्मिक विकास का यह क्रम प्रथम

सम्यक्दृष्टि की अपेक्षा से काफी मेल खाता है। इसे प्रवाहक्रम में निम्नवत् रूप से भी समझा जा सकता है -

श्रावक और विरत के रूप में विकास **-** दर्शनमोह का उपशम– चौथी अवस्था में अनन्तानुबंधी कषायों का क्षपण– पाँचवीं अवस्था में दर्शनमोह का क्षय– छठवीं अवस्था में चारित्रमोह का उपशम– सातवीं अवस्था में चारित्रमोह का उपशान्त होना– आठवीं अवस्था में उपशान्त चारित्रमोह का क्षपण (क्षपक)– नौवीं अवस्था में चारित्र मोह क्षीण (क्षीण मोह) होना– दसवीं अवस्था में जिन की प्राप्ति।

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नैतिक विकास की यात्रा नियतक्रम में जीव के आरोहण प्रवाह को स्पष्ट करती है। इसमें कहीं से भी जीव के पतनोन्मुख होने का विधान नहीं मिलता। गुणस्थान में यह स्थिति चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होकर आगे बढ़ती है। जहाँ उमास्वामिजी ने इस ग्रंथ में यह माना है कि उपशम– उपशान्त– क्षपण व क्षय कर्म विशुद्ध का साधन है वहीं इसका खण्डन गुणस्थान सिद्धान्त में देखने को मिलता है यथा- दसवें गुणस्थान में जीव यदि नियत कर्मों का **उपशम** करता है तो ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है जो कि इस यात्रा में पतनोन्मुख होने का अंतिम सोपान है। और यदि वह दसवें गुणस्थान में उपशम की जगह उन कर्मों का **क्षय** करता है तो क्षीण मोह नामक 12वें गुणस्थान में आरोहण कर लेता है जहाँ पर अथवा जहाँ से आगे पतन की सम्भावनाएं समाप्त हो जाती है और सिद्धात्म की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित आध्यात्मिक विकास की जो ध्यानादि स्थितियां उल्लखित हैं उनकी भी तुलना गुणस्थान से की जा सकती है।

<u>कर्म निर्जरा के प्रसंग की 10 स्थितियाँ –</u>

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्त वियोजक, दर्शन मोह क्षपक (चारित्र मोह) उपशमक, उपशान्त (चारित्र) मोह, क्षपक और क्षीण मोह। यदि अनन्त वियोजक को अप्रमत्तसंयत, दर्शनमोहक्षपक को अपूर्वकरण, उपशमक (चारित्र मोह) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो गुणस्थान के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। क्षपक श्रेणी को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि दर्शनमोहक्षपक की स्थिति अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान जैसी है किन्तु समस्या यहाँ उत्पन्न होती है कि आठवें गुणस्थान से क्षपक श्रेणी आरम्भ होती है जबकि तत्त्वार्थसूत्र में यहाँ दर्शनमोह का पूर्ण क्षय मान लिया गया है। गुणस्थानों में क्षीणमोह 12वाँ गुणस्थान है। तत्त्वार्थसूत्र के रचियता उमास्वामि संभवत: दर्शनमोह व चारित्रमोह दोनों में पहले उपशम फिर क्षय मानते हैं। आचार्य कुन्द- कुन्द रचित कसाय पाहुड़ आदि को प्रथम सदी के आसपास का मान लिया जाय तो षट्खण्डागम (जिसमें गुणस्थान का व्यवस्थित वर्णन है) को चौथी–पाँचवीं सदी का ग्रंथ माना जा सकता है। इससे पूर्ववर्ती ग्रंथों में गुणस्थान का उल्लेख नहीं मिलता है यद्यपि उसके तत्त्व चिंतन सम्बन्धी अंश यथा – तथा अवश्य उपलब्ध हैं। किन्तु इसके पश्चात् की रचनाओं पर गुणस्थान का प्रभाव स्पष्ट तौर पर देखा जाता है। कसाय पाहुड़ के समान तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान नाम का शब्द नहीं मिलता है। कसाय पाहुड़ में उपलब्ध गुणस्थान से सम्बन्धित शब्द

मिथ्यादृष्टि, सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत /विरता-विरत (संयमासंयम) , विरतसंयत उपशान्त कषाय एवं क्षीण मोह की तुलना में तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्-मिथ्यादृष्टि की धारणा नहीं है किन्तु 'अनन्तवियोजक नाम की अवधारणा है जिसका कसाय पाहुड में अभाव है। कसाय पाहुड़ व तत्त्वार्थसूत्र दोनों में प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये चार समानरूप से अनुपस्थित हैं किन्तु उपशान्तमोह और क्षीणमोह के मध्य की स्थिति खवग या क्षपक का वर्णन है जो गुणस्थान अभिगम में दृष्टिगत नहीं होती। कसाय पाहुड़ और तत्त्वार्थसूत्र दोनों में वर्णित कर्म विशुद्धि की अवस्थाओं में बहुत कुछ समानता है जो उसके समकालीन होने का दावा पुष्ट करती है। तत्वार्थसूत्र शैली पर बौद्ध परम्परा व योग दर्शन व्यवस्थाओं का भी प्रभाव हो सकता है। बौद्ध दर्शन में आध्यात्मिक विकास की 4 भूमियां, योगवशिष्ठ की 7 स्थितियों की तरह उमास्वामिकृत तत्वार्थसूत्र में आत्मशुद्धि की 10 विधि, चतुर्विधि व सप्तविधि को आधार बनाया गया है।

<u>श्वेताम्बर साहित्य और गुणस्थान</u> -

दिगम्बर आम्नाय के कसाय पाहुड़ की तरह श्वेताम्बर आगम का मान्य ग्रंथ आलोडन है किन्तु गुणस्थान की वर्णित अवस्थाओं का उल्लेख इसमें प्राप्त नहीं होता है। निर्युक्तियों में आचारांग निर्युक्ति के चतुर्थ अध्याय समयक्त्व पराक्रम में निम्न 10 अवस्थाओं का उल्लेख है-

सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसंते ।।22।।
खवए य खीण मोहे , जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा।
तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए।।23।।
-आचारांग निर्युक्ति(निर्युक्ति संग्रह पृ -441)

1. सम्यक्त्वोत्पत्ति 2. श्रावक 3. विरत 4. अनन्त वियोजक 5. दर्शनमोह क्षपक 6. उपशमक 7. उपशान्त 8. क्षपक 9. क्षीण मोह और 10. जिन।

उपरोक्त गाथा निर्युक्तिकार की मूलगाथा न होकर कर्म सिद्धान्त ग्रंथ से अवतरित लगती है। इसमें गुणस्थान में वर्णित तीन अवस्थाओं - मिथ्यादृष्टि, सासादन एवं मिश्र का अभाव है। श्रावक व विरत की तुलना पाँचवें देशव्रत एवं छठवें प्रमत्त संयत गुणस्थान से की जा सकती है। दर्शनमोहक्षपक की तुलना आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से नहीं की जा सकती जबकि कषाय उपशम और उपशान्त कषाय अवस्थाओं की 10वें और 11वें गुणस्थान से तुलना की जा सकती है । क्षपक अवधारणा गुणस्थान नहीं है जबकि क्षीण मोह 12वें गुणस्थान के साथ तुलनीय है। <u>जिन</u> सयोग केवली जैसी अवस्था है। अयोग केवली को लेकर इसमें कोई प्रथक उल्लेख नहीं है। इनका विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि आचारांग निर्युक्ति में वर्णित ये दस अवस्थाएं भले ही समान रूप से पल्लवित न हुई हो किन्तु बीज रूप में अवश्य उपस्थित हैं।

<u>नियुक्र्तियों की प्राचीनता-</u>

माना जाता है कि निर्युक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय (वराह मिहिर के भाई) की रचना है तो इनका काल पाँचवीं सदी हैं तो इसमें वर्णित दस अवस्थाएँ इससे पूर्व तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामि रचित) में वर्णित रही होंगी क्योंकि उनका कार्यकाल दूसरी से तीसरी सदी है। यदि इसे भद्रबाहु प्रथम की रचना मानें तो वे निर्युक्त के रचनाकार भद्रबाहु को (स्वयं को) प्रणाम नहीं कर सकते जैसा कि वे करतें हैं। दूसरे उनकी निर्युक्तियों में वि.नं.सं. 184 में इस समय तक होने वाले 7 निहन्वों और आर्यरक्षित (वि.नि.सं.584) का भी उल्लेख है। इन दोनों का एक साथ होना एवं प्रथम भद्रबाहु के साथ संगति युक्तियुक्त नहीं लगती क्योंकि उनका स्वर्गवास वि.नि.सं.170 अर्थात तृतीय सदी में हो जाता है तब वे वि.नि. 584 में होने वाले निहन्वों एवं आर्यरक्षितों का उल्लेख कैसे कर सकते हैं? यदि इसे भद्रबाहु द्वितीय की रचना माना जाय तो प्रश्न यह उठता है कि बोटिक निहन्व और गुणस्थान अवधारणा का अन्तर्भाव इन निर्युक्तियों में क्यों नहीं है? इनका अभाव यह दर्शाता है कि ये द्वितीय सदी के पूर्व की रचना है।

कल्पसूत्र में आर्यकृष्ण व आर्यशिवभूति के मध्य सचेलता व अचेलता को लेकर हुए विवाद का प्रसंग मिलता है जिसके परिणाम स्वरूप बेटिक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी। इनके समकालिक एक आर्यभद्र हुए हैं जो आर्य शिवभूति के शिष्य तथा आर्य नक्षत्र व आर्य रक्षित से ज्येष्ठ थे। इनका काल द्वितीय-तृतीय सदी रहा है। अतः निर्युक्तियां आर्यभद्र की रचना लगती हैं आगे चलकर नाम साम्य और भद्रबाहु की प्रसिद्धि के कारण इनकी रचनाएं मानी जाने लगी हों किन्तु वस्तुतः इन निर्युक्तियों को द्वितीय सदी के प्रथमचरण की रचना मानना अनुचित नहीं है।

आवश्यक निर्युक्ति की जिस गाथा में 14 गुणस्थानों के समक्ष 14 भूतगामों का उल्लेख मिलता है उन्हें हरिभद्र की आठवीं शताब्दी की टीका में मूल निर्युक्ति की रचना न मानकर किसी संग्रहणी गाथा से लिया हुआ माना जाता है।

इससे स्पष्ट होता है कि निर्युक्ति साहित्य में 14 गुणस्थान अनुपस्थित है। तत्त्वार्थसूत्र की भाँति इसमें भी 10 स्थितियों का ही उल्लेख है। आचारांग निर्युक्ति को रचनाकार ने कर्म सिद्धान्त साहित्य के किसी ग्रंथ से लिया है ठीक उसी प्रकार जैसे षट्खण्डागम के वेदना-खण्ड से अवतरित गुणस्थान सम्बन्धी गाथाएं आगे चलकर धवलासार व गौम्मटसार में भी रखी गई। शिवशर्म सूरि की कर्म प्रकृति तत्पश्चात् चन्दर्षिकृत पंचसंग्रह (आठवीं सदी पूर्व) के बन्ध द्वार के उदय निरूपण में ग्यारह स्थितियों का उल्लेख हुआ है इसका तार्किक आधार यह कहा जा सकता है कि पूर्व में वर्णित 10 स्थितियों की संख्या यहाँ ग्यारह होने का कारण दसवीं अवस्था 'जिन' का सयोगी- अयोगी दो भागों में विभाजन होंना है। यथा-

"संमत्त- देस- संपुन्न- विरइ-उप्पत्ति-अण-विणसंजोगे।
दंसणखवणे मोहस्स समणे उवसंत खवगे य।। 4।।

खीणाइतगे अस्संखगुणियगुणसेढिदलिय जहकमसो।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखसे।।5।।

-पंचसंग्रह बंधद्वार, उदयनिरूपण

सम्यक्त्व, देशविरत, सर्व विरत, अनन्तानुबन्धी विसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशान्त(कषायशमक), क्षपक एवं क्षीणत्रिक अर्थात् क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोग केवली ये गुणस्थानक स्थितियां यहाँ से फलित की जा सकती हैं।

आचार्य देवेन्द्र सूरि विरचित अर्वाचीन कर्म ग्रंथों में शतक नामक पंचम कर्म ग्रंथ की 82वीं गाथा में भी स्पष्टता की गई है-

सम्मदरससव्वविरई उ अणविसंजोय दंसखवगेय।
मोहसमसंत खवगे खीणसजोगियर गुणसेढी।।

सम्म(सम्यक्त्व), दर(देशव्रती), अणविसंजोय(अनन्त वियोजक), सखवगे(दर्शनमोहक्षपक), शम, उपशान्त(केवलसंत), खीण(क्षीणमोह) तथा (जिन के स्थान पर) सजोगी और इतर अवस्थाएं इस गाथा से फलित होती है जिससे गुणस्थान श्रेणियों की निकटता प्रकट होती है। श्वेताम्बर साहित्य की दृष्टि से इन्हें बीज रूप माना जा सकता है। इनका उल्लेख कर्म ग्रंथों में दूसरी से 13वीं सदी तक किसी न किसी रूप में मिलता है।

<u>दिगम्बर साहित्य में गुणस्थान सिद्धान्त के बीज-</u>

दिगम्बर साहित्य के प्राचीन ग्रंथों गुणस्थान सिद्धान्त का 'मूल' खोजने का प्रयासबद्ध विश्लेषण निम्नवत् रूप से किया जा सकता है।

A- <u>कार्तिकेयानुप्रेक्षा</u>-

जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों को आधार बनाकर आत्मा के विकास क्रम की चर्चा की गई है उसी प्रकार इस कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जैन तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा, सृष्टि स्वरूप, मुनि आचार और श्रावकाचार के मद्देनजर बारह भावना या अनुप्रेक्षाओं (अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म) का वर्णन किया गया है। इसमें निर्जरा अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत कर्म–निर्जरा के आधार पर जिन बारह अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है उनमें से यदि कुछ के नामान्तर को छोड़ दिया जाय तो गुणस्थान में वर्णित स्थानों से काफी समानता प्रतीत होती है। यथा-

मिथ्यात्वी, सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती, प्रथम कषाय–चतुष्क वियोजक, क्षपक शील, दर्शन मोहत्रिक(क्षीण), कषाय चतुष्क उपशमक, क्षपक, क्षीण मोह , सयोगीनाथ और अयोगीनाथ।

नाम की भिन्नता के बावजूद आध्यात्मिक विकास यात्रा का नियतक्रम इनमें सन्निहित है। उपर्युक्त में उपशान्त मोह नाम की अवस्था का उल्लेख नहीं है जिसका निर्देश आचारांग निर्युक्ति एवं तत्त्वार्थ सूत्र में किया गया है । इस ग्रंथ मे 14 गुणस्थानों का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण इसे कसायपाहुड़ का समकालिक एवं षट्खण्डागम का पूर्ववर्ती माना जा सकता है। इस ग्रंथ के टीकाकार शुभचन्द्रजी ने उपशान्तकषाय अवस्था का उल्लेख किया है जो कि मूल ग्रंथ में नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्व की गणना करके मात्र 11 अवस्थाओं को

वर्णित किया है। इन 11 अवस्थाओं की अपेक्षा से इस ग्रंथ का काल चौथी सदी का उत्तरार्ध एवं पाँचवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। भाषाकीय प्राचीनता भी इस तथ्य की पुष्टि में सहायक है। बारह अनुप्रेक्षाओं का स्वतंत्र वर्णन करने वाले दो अन्य ग्रंथ हैं-

1. कुमारस्वामी कृत बारस्साणुवेक्खा अपरनाम कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा तथा
2. आचार्य कुन्द कुन्द कृत बारस्साणुवेक्खा ।

प्रो० ए० एन० उपाध्ये का मत है कि भाषा, शैली और प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से ये रचनाएं प्रवचनसार के काल के निकट प्रतीत होती हैं एवं इनकी प्राचीनता सिद्ध करती हैं। कुन्द कुन्द के नाम से प्रचलित द्वादशानुप्रेक्षा उनकी स्वयं की रचना है कि नहीं इस पर प्रश्न चिन्ह है कारण, इस ग्रंथ के अंत में 'मुनिनाथ कुन्द कुन्द ने कहा है' लिखा है। विचारणीय है कि आचार्य कुन्द कुन्द अपनी रचना में स्वयं को कैसे मुनिनाथ कह सकते है ? संभवतः यह उनके साक्षात् शिष्य की रचना रही हो।

पं. जुगल किशोर मुख्तार कर्त्तिकेयानुप्रेक्षा के रचियता कुमार स्वामी को उमास्वाति (तत्त्वार्थसूत्र के रचियता) के बाद स्थापित करते हैं। यदि इन कुमार स्वामी की तुलना हल्सी के ताम्र पत्र में उल्लखित यापनीय संघ के कुमारदत्त से की जाय तो उनका काल पाँचवीं सदी का है। प्रो. मधुसूदन ढाकी एवं ए. एन. उपाध्ये उन्हें सातवीं सदी का मानने के पीछे तर्क देते हैं कि एकान्तिक मान्यताओं का खण्डन और सर्वज्ञता की तार्किक सिद्धि की अवधारणाएं पाँचवीं सदी में अस्तित्व में थीं। कुछ टीकाकार कुमारनन्दी को कुन्द-कुन्द का गुरु मानते हैं। यदि कुमारनन्दी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा के लेखक कुमार स्वामी ही हैं तो भी उन्हें समन्तभद्र और कुन्द-कुन्द से पूर्ववर्ती माना जा सकता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जिन अंशों या घटकों या तत्त्वों की चर्चा है वे गुणस्थान विकास का आधार रही है ऐसा मानना कदाचित अनुचित नहीं लगता।

षट्खण्डागम- दिगम्बर कर्म साहित्य-

'गुणस्थान' के स्थान पर जीवसमास का उपयोग होने के बावजूद षट्खण्डागम ग्रंथ में गुणस्थान अवस्थाओं की पूर्णता देखने को मिलती है। श्वेताम्बर साहित्य की आवश्यक निर्युक्तियों में 14 भूतग्रामों का उल्लेख है किन्तु गुणस्थान अवस्थाओं का नहीं । समवायांग ग्रंथ में उपलब्ध 14 स्थानों को जीवठाण कहा है। पं. दलसुखभाई आदि विद्वानों का मानना है कि यह अंतिम अंश वाचना के समय इसमें जोड़ा गया जो वास्तव में पाँचवीं सदी के उत्तरार्ध की रचना है। षट्खण्डागम में गुणस्थानों का वर्णन चतुर्थ खण्ड (वेदना खण्ड) के अन्तर्गत सप्तम वेदनाविधान की चूलिका में से लिया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि चूलिका की ये गाथाएं इस ग्रंथ का मूल अंश न होकर आचारांग निर्युक्ति से प्रेरित(गाथा 222-223) एवं मिलती-जुलती हैं। ठीक उसी प्रकार उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र भी कसायपाहुड़ ग्रंथ से प्रेरित है। षट्खण्डागम में गुणस्थान सम्बन्धी गाथाओं एवं आचारांग निर्युक्ति की गाथाएं कसाय शब्द के अतिरिक्त पूरी ज्यों की त्यों हैं-

सम्मत्तुपत्ती वि य सावय विरदे अणंत कम्मसे।
दंसण मोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसंते।।
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा मेव असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणा य सेडीओ।। -षट्खण्डागम

उपर्युक्त गाथाएं गौम्मटसार के जीवकाण्ड की गाथा 66-67 के रूप में भी उपलब्ध हैं।

सम्मत्तुपत्ती सावय विरए अणंतकम्मसे।
दंसण मोहक्खवए उवसामन्ते य उवसंते।।
खवए य खीण मोहे जिणे अ सेढ़ी भवे असंखिज्जा।
तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणाइ य सेढ़ीए।।

-आचारांग निर्युक्ति

<u>कर्म निर्जरा पर आधारित 10 अवस्थाएं-</u>

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशो संख्येयगुणानिर्जराः।। 47 अ. 9।। त.सू.

प्रो. सागरमल जैन गुणस्थान सिद्धान्त विश्लेषण में यह मानते हैं कि आचारांग निर्युक्ति षट्खण्डागम से प्राचीन है तथा गुणस्थान सम्बन्धी षट्खण्डागम की गाथाएं मूल न होकर इस निर्युक्ति से अवतरित हैं।

क्रम सं.	आचारांग निर्युक्ति एवं षट्खण्डागम की 10 अवस्थाएं	तत्वार्थसूत्र में वर्णित 10 अवस्थाएं
1.	सम्यक्त्व उत्पत्ति	सम्यग्दृष्टि
2.	श्रावक	श्रावक
3.	विरत	विरत
4.	अनन्त वियोजक	अनन्त वियोजक
5.	दर्शनमोहक्षपक	दर्शनमोहक्षपक
6.	कसायउपशमक(आचारांग में अनुपस्थित	उपशमक
7.	उपशान्त	उपशान्तमोह
8.	क्षपक	क्षपक
9.	क्षीणमोह	क्षीणमोह
10.	जिन	जिन

षट्खण्डागम और गुणस्थान

दिगम्बर जैन साहित्य में गुणस्थान के अध्ययन हेतु षटखण्डागम बीजरूप एवं एक आधारभूत ग्रंथ माना जाता है। कर्म सिद्धान्त विषयक यह ग्रंथ 6 खंडो में विभक्त हैं-

1. जीवट्ठाण
2. खुद्दाबन्ध
3. बंधसामित्तविचय
4. वेयणा
5. वग्गणा
6. महाबंध।

षट्खण्डागम के रचियता-

ऐसा माना जाता है कि आचार्य धरसेन षटखण्डागम के सम्पूर्ण ज्ञाता थे। वे अष्टांग निमित्तों के परागामी एवं प्रवचन वात्सल्य मुनि थे। अंगश्रुत के विच्छेद होने की आशंका से भयभीत होकर इन आचार्य ने महिमा नाम की नगरी में सम्मिलित दक्षिणापथ के आचार्यों के पास पत्र लिखकर दो योग्य शिष्यों को भेजने का आग्रह किया जो षट्खण्डागम का अध्ययन कर सकें। फलस्वरूप पुष्पदंत और भूतबली नाम के दो शिष्यो ने आचार्य घरसेन के पास पहुँचकर षट्खण्डागम सिद्धान्त की शिक्षा ग्रहण की। इस प्रकार आचार्य धरसेन ने अपनी श्रुत विद्या रूपी घरोहर की रक्षा की। षट्खण्डागम पर रचित घवला टीका के रचनाकार ने यद्यपि इन दोनों शिष्यों के नामों का तो उल्लेख नहीं किया तथापि यतिसंघ को भेजे गये पत्र, फलस्वरूप पहुँचे दो शिष्य व इन शिष्यों की कठिन परीक्षा के बाद उनको षट्खण्डागम का श्रुतज्ञान प्रदान करने की बात की पुष्टि अवश्य की है।

मूलग्रंथ के पाँच खण्ड प्राकृत भाषा में सूत्रबद्ध हैं। इनमें से पहले खण्ड के सूत्रों का सम्पादन आचार्य पुष्पदंत (ई० 66- 106) ने किया। उनका शरीरान्त हो जाने पर शेष 4 खण्ड आचार्य भूतबली (ई० 66- 156) ने पूरे किए जो यह मूलतः आचार्य पुष्पदंत की सोच व मेहनत का सम्पादन मात्र था। किन्तु इसका छठा खण्ड सम्पूर्ण विस्तार के साथ आचार्य भूतबली द्वारा बनाया गया है।

टिप्पणी-

आचार्य धरसेन का समय भगवान महावीर के 683 वर्ष पश्चात का है। ऐसा माना जाता है कि वीर निर्वाण के 470 वर्ष पश्चात विक्रम का जन्म हुआ जहाँ से विक्रम संवत में 470 वर्ष का अंतर है। इस क्रम में षटखण्डागम का रचनाकाल वीर निर्वाण के पश्चात 7वीं शताब्दी के अंत या 8वीं शताब्दी के प्रारम्भ का है। इसी प्रकार विक्रम संवत के अनुसार इसकी गणना करे तो यह समय चौथी सदी का अंत या 5वीं सदी का प्रारम्भ है।

यदि यह मान लिया जाय कि विक्रम के राज्याभिषेक से ही विक्रम संवत का आरम्भ हुआ तो वीर निर्वाण व विक्रम संवत के मध्य 488 वर्ष का अंतर आता है क्योंकि राज्याभिषेक के समय विक्रम की उम्र 18 वर्ष की थी ऐसा विद्वानों का मानना है।

षट्खण्डागम की संक्षिप्त विषय वस्तु

1.जीवट्ठाण-

इस खण्ड में जीव के गुणधर्म व पर्यायों का वर्णन 8 प्ररूपणाओं (सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व) में सन्निहित है। इसके अतिरिक्त नौ चूलिकाएं (प्रकृति-समुत्कीर्तन, प्रथम महादण्डक, द्रितीय महादण्डक, तृतीय महादण्डक, उत्कृष्ट- स्थिति, जधन्य स्थिति, सम्यकत्वोत्पत्ति और गति-अगति) हैं। सत्प्ररूपणा के प्रथम सूत्र में णमोकार मंत्र का पाठ है। इस प्ररूपणा का विषय निरूपण ओघ-आदेश क्रम से किया गया है। ओघ में मिथ्यात्वादि 14 गुणस्थानों का वर्णन है तथा आदेश में इन्द्रिय, कायादि 14 मार्गणाओ का। इसमें 177 सूत्र है।

जीवट्ठाण की दूसरी प्ररूपणा द्रव्यप्रमाणानुगम है। इसमें 192 सूत्रों द्वारा गुणस्थान व मार्गणा क्रम से जीवों की संख्या का निर्देश किया गया है। क्षेत्र प्ररूपणा के 92 सूत्रों में गुणस्थान व मार्गणा क्रम में ही जीवों के क्षेत्रों का वर्णन है।

अन्तरप्ररूपण में अंतर का अर्थ विरह या विच्छेद से लिया जाता है। अर्थात् जीव विवक्षित होकर एक गुणस्थान को छोड़कर चला जाता है और पुन: उसी गुणस्थान में आता है इसे 'अन्तर काल' कहा जाता है। इस प्ररूपणा में 397 सूत्र हैं।

भाव प्ररूपणा में 93 सूत्रों के द्वारा विभिन्न गुणस्थानों व मार्गणा स्थानों में होने वाले औपशामकादि 5 भावों का निरूपण किया है। अल्पबहुत्व प्ररूपणा में गुणस्थान व मार्गणास्थानवर्ती जीवों की संख्या का हीनाधिकत्व व परस्पर सापेक्ष तुलनीय वर्णन है।

प्रकृति समुत्कीर्तन नाम की चूलिका के 46 सूत्रों में जीवों के गति-अगति, जाति आदि नाना भेदों का वर्णन है। दूसरी चूलिका में 117 सूत्रों के द्वारा यह बताया गया है कि प्रत्येक मूलकर्म की कितनी उत्तर प्रकृतियां एक साथ बाँधी जा सकती हैं और किस किस गुणस्थान में कितनी कर्म प्रकृतियों का क्षय जीव के द्वारा किया जा सकता है। तृतीय चूलिका द्वितीय महादण्क के दो सूत्रों में ऐसी कर्म प्रकृतियों की गणना की गई है जिनका बन्ध प्रथम सम्यकत्वोन्मुखी देव व 6 पृथ्वियों के नारकी जीव करते हैं। तृतीय दण्डक नाम की पाँचवीं चूलिका में भी दो सूत्र हैं जिसमें सातवीं पृथ्वी के सम्यकत्वोन्मुखी होने पर अन्य योग्य प्रकृतियों की चर्चा की गई है। छटवीं उत्कृष्ट स्थिति चूलिका में 44 सूत्रों के द्वारा बँधे हुए कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में 7वीं जधन्य स्थिति (43 सूत्र) चूलिका में इन बँधे कर्मों की जधन्य स्थिति दर्शाती है। 8वी सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका के 16 सूत्रों में सम्यक्त्वोत्पत्ति योग्य कर्म स्थिति का निरूपण है। गति-अगति नाम की नवमी चूलिका में कुल 243 सूत्र है। इस प्रकार जीवट्ठाण में कुल 2375 सूत्र है।

2. खुद्दाबन्द (क्षुद्रक बन्द)-

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण खण्ड है जिसमें मार्गणास्थानों के संदर्भ में जीव की बन्धक- अबन्धक स्थितियों को समझाया गया है। इसमें 11 अनुयोगों (एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, व अन्तर नाना जीवों की अपेक्षा मंग विचय, द्रव्य प्रमाणनुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीवों की अपेक्षा काल व अन्तर, भागाभागा नुगम, व अल्पबहुत्वानुगम,) के पूर्व प्रस्ताविक कप में सत्व की पूरूपणा 13 अधिकारों में की गई है।

- स्वामित्व अनुगम में 91 सूत्र (मार्गणानुक्रम में कौन से गुण पर्याय वाले जीव के कौन से भाव उत्पन्न होते हैं और वह किन लब्धियों को प्राप्त करता है, का वर्णन है)
- कालानुगम में 216 सूत्र (गति, इन्द्रिय, काय की मार्गणागत उत्कृष्ट व जघन्य अवधि)
- अन्तर प्ररूपणा में 151 सूत्र के माध्यम से मार्गणाक्रम में उत्कृष्ट व जघन्य अन्तर काल का विशद वर्णन है।
- द्रव्य प्रमाणानुगम में 171 सूत्र हैं जिसमे गुणस्थान योग व मार्गणाक्रम से जीवों की संख्या तथा आश्रय से काल व क्षेत्र का विस्तार बतलाया गया है।
- क्षेत्रानुगम के 124 तथा स्पर्शानुगम के 271 सूत्रों में स्वविशिष्टता के आधार पर जीवों का विवेचन किया गया है।
- कालानुगम के 55 सूत्रों में नाना जीवों के काल का वर्णन है।
- अन्तरानुगम के 68 सूत्रों में नाना जीवों के कालान्तर का वर्णन है।
- अल्पबहुत्व अनुगम में 106 सूत्र हैं जिसमें 14 मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमास का तुलनात्मक द्रव्य प्रमाण बताया गया है। अंतिम महादण्ड चूलिका में 79 सूत्र है जिसमें मार्गणा विभाग को छोड़कर गर्भप्रक्रान्तिक- मनुष्य पर्याप्ति से लेकर निगोद जीवों के जीवसामासों का अल्पबहुत्व प्रतिपादन है। इस खण्ड में कुल 1582 सूत्र है।

3.बंधमित्तसामित्तविचय (बंध स्वामित्व विचय)-

इस खण्ड में सभी कर्मों का बंध करने स्वामि दो का विचार किया गया है। किस गुणस्थान में किन कर्म प्रकृतियों का बंध हो सकता है और किसका नहीं इसकी विवेचना की गई है। इस खण्ड के कुल 324 सूत्रों में से गुणस्थानक क्रम में जीव की बन्ध प्रकृति का वर्णन करने वाले आरम्भिक 42 सूत्र हैं।

4.वेदना खण्ड-

कर्म प्राकृति के 24 अधिकारों में से दो प्रथम अनुयोंगों का नाम वेदना खण्ड है। कृति अनुयोग द्वारा में कुल 75 सूत्रों में से प्रथम 44 सूत्रों में मंगल-स्तवन तथा शेष में कृति के 13 भेद स्वरूपों का वर्णन है। निक्षेपाधिकार में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन 4 निक्षेपों के द्वारा वेदना के स्वरूपों का स्पष्टीकरण किया गया है।

5.वर्गणा खण्ड-

इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोग द्वारों का प्रतिपादन किया गया है।

बन्ध के चार भेद हैं- 1. बन्ध 2. बन्धक 3. बन्धनीय 4. बन्ध-विधान।

6.महाबन्ध- इस खण्ड में निम्न लिखित अनुयोग द्वारों का विस्तृत वर्णन है-

- प्रकृति बन्ध : आत्मा से सम्बद्ध कर्म परमाणुओं में आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों को आवृत करना यह प्रकृति बन्ध है।
- स्थिति बन्ध : ये आये हुए कर्म परमाणु जितने समय आत्मा के साथ रहते हैं वह स्थिति बन्ध है।
- अनुभाग बन्ध : इन कर्म परमाणुओं में फल प्रदान करने का जो सामर्थ्य है वह अनुभाग बन्ध है।
- प्रदेश बन्ध : आत्मा के साथ बँधने वाले कर्म रूप सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का ज्ञानावरणादि आठमूल कर्म प्रकृतियों के रूप में जो बँटवारा होता है उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

जैनआगम व गुणस्थान-

श्वेताम्बर आम्नाय से जुड़े ग्रंथाकार आचार्य रत्नशेखर सूरीश्वरजी चौदह गुणस्थान नामक कृति में स्पष्टता करते हैं कि सरलता की दृष्टि से मोक्षमार्ग के निरूपण हेतु जैन आगम को पूर्वाचार्यों द्वारा 4 भागों में विभाजित किया गया है-

1. द्रव्यानुयोग-

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं जीवास्तिकाय तथा काल षट द्रव्यों की व्यवस्था का वर्णन। स्याद्वाद, नयवाद, सप्तभंगी, कर्मवाद तथा अध्यात्मक्रम-गुणस्थान का वर्णन द्रव्यानुयोग प्रधान ग्रंथों में मिलता है। यह गुणस्थान का सैद्धान्तिक या बोध भाग कहा जा सकता है।

2. **गणितानुयोग-**

यह चौदह राज लोक प्रमाण, मध्यलोक व विभिन्न द्वीपों – पर्वतों का वर्णन, शाश्वत अशाश्वत पदार्थों की गणितीय माप। इनसे सम्बन्धित जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, अनुयोग द्वार, जीवाभिगम आदि आगम ग्रंथ बृहद-लघु संग्रहणी, बृहद-लघु क्षेत्र समास आदि गणितानुयोग प्रधान हैं।

3. **चरणकरुणानुयोग-**

इसमें चारित्र पालन सम्बन्धी अणुव्रत-महाव्रत संदर्भित जानकारी समाहित है। दशैवकालिक-आचारांग, प्रशमरति उपदेश पद आदि ग्रंथों में इसकी जानकारी मिलती है। इसे गुणस्थान का चारित्र भाग कहा जा सकता है।

4. **धर्मकथानुयोग-**

भव्य जीवों को आध्यात्म पथ पर बढ़ाने हेतु प्रेरक कथाओं का समावेश इसमें किया गया है। उत्तराध्ययन, ज्ञाता-धर्म कथा(आगम-ग्रंथ) तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में इस अनुयोग की जानकारी मिलती है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि गुणस्थान विकास क्रम का ऐतिहासिक विवरण स्पष्ट करता है कि जैन दर्शन की दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में गुणस्थान

व गुणस्थान विकास के 14 क्रमों का वर्णन भले ही नियतक्रम में न हुआ हो फिर भी आध्यात्मिक विकास के बीज किसी न किसी रूप में वहाँ अवश्य विद्यमान रहे थे। सच यह है कि इस विकास आरोहण पथ में पहली बार 4-5वीं सदी के अंत में उत्थान-पतन का समुच्चय स्पष्ट हुआ है। भावनात्मक उतार-चढ़ाव तर्क संगतता की कसौटी कहे जा सकते हैं जो गुणस्थान विभावना का आधार बने। इस दिशा में षट्खण्डागम के व्याख्यासूत्रों में वर्णित 11 अवस्थाओं के आधार पर स्पष्टताकी जा सकती है -

दर्शनमोहउपशमक, संयतासंयत(अघापवत्र) अघःप्रवृत्त, अनन्तानुबन्धी विसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, कषाय उपशमक, उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ, कषायक्षपक, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, अघःप्रवृत्त एवं योग निरोध केवलीसंत।।

- षट्खण्डागम के व्याख्यासूत्र।।

योग निरोध केवलीसंत अवस्था गुणस्थान सिद्धान्त के विकास क्रम में अयोग केवली के रूप में जानी गई। इन 11 स्थितियों में तीन अवस्था यथा मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र और जुड़ीं जिससे इनकी संख्या 14 हुई। इन अवस्थाओं में अनन्त वियोजक, दर्शनमोहक्षपक और कसायउपशमक के स्थान पर क्रमशः अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण ये तीन नये नाम आये। इसी प्रकार उपशान्त कसाय और क्षपक के स्थान पर सूक्ष्म साम्पराय थथा उपशान्तमोह नामक दो अवस्थाएं बनी। मूल गाथा में वर्णित 10 अवस्थाओं में पतन की कोई कल्पना नहीं है जबकि सास्वादन व मिश्र गुणस्थान का उदय इसी कल्पना की देन है। इसी क्रम में आगे देखें तो मूल गाथाओं में 10वें गुणस्थान से आरोहण की क्षपक और उपशम की दृष्टि से अलग-अलग विधान नहीं है जबकि 10वें गुणस्थान से आरोहण हेतु उक्त दृष्टि से जीव अलग-अलग गुणस्थानों (उपशम से 11वें तथा क्षय से 12वें गुणस्थान क्रम में) पहुँचता है। रचना काल की दृष्टि से इन्हें निम्नक्रम में रखा जा सकता है।

1. पूर्व साहित्य में कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथ
2. आचारांग निर्युक्ति- आर्यभद्र दूसरी सदी
3. तत्त्वार्थसूत्र- उमास्वामि या उमास्वाति तीसरी-चौथी सदी
4. कसायपाहुड़सुत्त- गुणधर चौथी सदी
5. षट्खण्डागम- पुष्पदंत-भूतबलि पाँचवीं-छठी सदी
6. गोम्मटसार- नेमिचन्द्र दसवीं सदी का उत्तरार्द्ध

अध्याय-2

<u>गुणस्थान का स्वरूप</u>

जैन दर्शन में गुणस्थान के 14 स्वरूपों या अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है जो जीव की आत्मिक उन्नति या आध्यात्मिक प्रगति की विकास यात्रा का द्योतक है। इसमें प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक की विकास यात्रा में सिद्धान्त बोध का प्रकटीकरण होता है जो दर्शन की अवस्थाओं का प्रतीक है। 5वें से 12वें गुणस्थान का सम्बन्ध सम्यक् चारित्र से है जो आध्यात्मिक उत्कृष्टता की अवस्थाएं हैं। दूसरे व तीसरे गुणस्थान वस्तुतः पतन की अवस्थाएं हैं किन्तु इनमें एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त किया हुआ जीव ही पहुँचता है। पतन के दौरान ये विश्राम स्थल की तरह है जहाँ से जीव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है। ऐसी ही स्थिति 11वें व 12वें गुणस्थान के संदर्भ में है क्योंकि 10वें गुणस्थान में यदि जीव कषायादि भाव या कर्मों का क्षय कर लेता है तो वह सीधा 12वें गुणस्थान में पहुँचता है जबकि उपशांत या क्षयोपशम की स्थिति में वह पहले 11वें गुणस्थान में जाता है और वहाँ से पतित होकर पहले गुणस्थान तक जा सकता है। 12वें गुणस्थान के बाद पतन नहीं होता है इसलिए इसके पश्चात के 13वें व 14वें गुणस्थान आध्यात्मिकता के श्रेष्ठतम या उत्कृष्ट शिखर कहे जाते हैं क्योंकि यहाँ केवलज्ञान का साम्राज्य रहता है। बस सर्वार्थसिद्धि या मोक्ष के लिए आयु कर्म के क्षीण होने की ही प्रतीक्षा रहती है।

<u>गुणस्थान का अर्थ-</u>

गुण + स्थान = गुणस्थान

गुण = आत्मा की चेतना, सम्यक्त्व समकित, संयम चारित्र तथा आत्मा वीर्य इत्यादि की शक्तियाँ गुण हैं।

स्थान = आत्मा की शुद्ध विशुद्धताओं की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं. आचरण या पर्याय को स्थान कहा जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मिक शक्तियों की साधना हेतु आत्मा के अपकर्ष और उत्कर्ष श्रेणींक्रम की जो स्थितियां या कसौटी परक आधार हैं उन्हें गुणस्थान कहा जा सकता है। कहा भी है– **गुणस्य स्थानं गुणस्थानम्-** अर्थात् जो गुण का स्थान है वही गुणस्थान है। गुणस्थानों का सम्बन्ध जीव या आत्मा के गुणों एवं लोकाकाश में उसकी स्थिति के साथ होता है। जीव व कर्मों के आवरण के कारण स्थितिबन्ध होता है। यही कर्मों का प्रमाण एवं तीव्रता स्थान निर्धारण में अहम् भूमिका निभाती है। जीव के भावों में होने वाले उतार-चढाव का बोध जिससे होता है जैन सिद्धान्त में उसे गुणस्थान कहा जाता हैं। ये गुणस्थान चौदह होते हैं। जीव के अंतरंग में उठने वाले भाव पाँच प्रकार के होते हैं- औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक और पारिणामिक।

औपशमिकक्षायिकौभावौमिश्रश्चजीवस्य।।1।।

स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।।2।। त. सू.-अ.-2

1-**औपशमिक भाव -** जो गुण कर्मों के उपशम से होता है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं।
2-क्षायिक भाव - जो गुणकर्मों के क्षय-विनाश से उत्पन्न होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं।
3-क्षायोपशमिक भाव - जो गुण कर्मों के क्षय और उपशम से होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।
4-औदायिक भाव- जो गुण कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है उसे औदायिक भाव कहते हैं।
5- पारिणामिक भाव- जो गुण कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभाव से ही होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

क्योंकि जीव इन गुणों का धारक होता है इसलिए आत्मा को भी गुण नाम से जाना जाता है और उसके स्थान को गुणस्थान कहा जाता है। जीव या आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है- राग-द्वेष रहित स्थिति अर्थात् वह स्थिति जिसमें बिना किसी अवलंबन के जीव अपने निज स्वरूप को जानता है। कर्मों का आवरण ही जीव को उसकी तीव्रता क्रम में उसकी अंतिम मंजिल अर्थात् मुक्ति अवस्था से दूर रखता है। विविध धर्मों में गुणस्थान के प्रकारों को लेकर भले ही विविधता हो किन्तु स्थिति विविधता को लेकर सभी एकमत हैं। आत्मा का ऊपर की ओर प्रयाण तभी संभव है जब वह अष्ट कर्मों से विरक्त हो जाती है। जीव जिस मात्रा में कर्मों का क्षय करता है उतने ही गुणस्थानों में अवस्थित होने का अधिकारी बन जाता है। इसके लिए कोई नियत समय सीमा नहीं है। भावबन्ध से अन्तर्मुहूर्त में दिशा परिवर्तन हो जाता है। वैश्या व साध्वी के एक दृष्टान्त के द्वारा इसे भली-भाँति समझा जा सकता है- एक वेश्या एवं एक साध्वी के रहने का स्थान का आमने- सामने था। दोनों एक दूसरे के वैभव व कार्य-कलापों को देखती और उनके न होने का मलाल भी करती थी। अर्थात् वेश्या साध्वी को देखकर सोचती थी कि ये साध्वी कितनी नसीब वाली हैं जिन्हें धर्म-ध्यान करने का सुयोग मिला है वहीं साध्वी के भाव वेश्या के ठाठ-बाट को देखकर उनको न भोग पाने का अफसोस मनोमन व्यक्त करते थे। यह स्थिति(भेष या क्रियाचरण) के विपरीत मनोदशा ही तो थी जिसने उनकी गति की दिशा ही बदल दी। हुआ यूं जब वेश्या मरी तो उसका मृत शरीर जंगल में फेंका गया किन्तु परिणाम विशुद्धि के चलते वह सद् गति को प्राप्त हुई ओर साध्वी की मृत्यु महोत्सव की पालकी तो सजी किन्तु परभव बिगड़ गया और वे नरक गति को प्राप्त हुई।

गुणस्थान भावाश्रित है न कि क्रियाकांण्ड आश्रित। मोक्षमार्ग में गुणस्थानों के स्वरूप को जानना बड़ा जरूरी है। गुणस्थान भावों पर निर्भर है और भाव का नाम ही यथार्थ में तत्त्व है। इसीलिए आगम में कहा गया है- **तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।** आठ अनुयोग द्वारों और चौदह मार्गणाओं के आधार पर जीव के स्वरूप का एवं उसके आध्यात्मिक विकास की 14 अवस्थाओं या गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। गुण शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इसका एक अर्थ है- जिसके द्वारा द्रव्य से द्रव्यांतर का ज्ञान हो। "गुणातेपृथकक्रियते द्रव्यं द्रव्यांतरेणते गुणाः" आ. प. के सूत्र संख्या 6 में स्पष्ट किया गया है।

जो द्रव्य की समस्त पर्यायो के साथ रहते हैं उसे ही गुण कहते हैं जैसे कि- न्याय.वी. की सूत्र संख्या 368,221 में बताया है कि-

"यावद द्रव्य भकिन सकल पर्यायानुवर्तिनो गुणाः।"

अणिमा महिमा, लधिमा आदि ऋद्धियाँ भी गुण कहे जाते हैं।

"औदायिकोपशमिकक्षायिकक्षायो पशमिकपारिणामिकीइतिगुणाः ।"ध. 1/1/8/160/6/.

आत्मा के कर्मों के उदय, उपशम, क्षय एवं क्षायोपशम तथा अपने चेतन स्वभाव के कारण उत्पन्न होने वाले औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक आदि इन पाँच भावों को ही गुण कहते हैं।

सम्यग्दर्शनादि भी आत्मा के गुण हैं संयमा संयमादि भी गुण कहे गये हैं

"सम्यग्दर्शनादयेगुणा" रा. वा. 6/ 10/ 6/ 4/ 38/ 25

जिनके द्वारा लिंग या द्रव्य की पहचान होती है, ऐसे लिंग या लक्षण को भी गुण कहते हैं। यहाँ पर आत्मा के उदयादि परिणाम जन्य गुणात्मक अवस्थाओं दशाओं या स्थानों को गुणस्थान कहते हैं।

जदि दु लक्खिज्जते उदयादिसु संमवेहि भावेहि।
जीवा ते गुण- सण्णा णिदिवटठा सवदरिसोहि।।

संसार में जीव मोहनीय कर्म के उदय उपशम आदि अवस्थाओं के अनुसार उत्पन्न हुए परिणामों, भावों या अवस्थाओं से युक्त दृष्टिगोचर होते हैं, इन परिणामों को सर्वज्ञ देव ने गुणस्थान संज्ञा प्रदान की है।

णिच्छो सासण मिक्खो अविरदसम्मो य देसविरतेय।
विरदा पमत्त इयरो अयुव्व-अणियटठ सुहमो य।।
उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलि जिणो अजोगि य।
चउदस गुणताणाणिय कमोण सिद्धा य णायव्वा।।

मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरति सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अर्निवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली, इस प्रकार क्रमशः चौदह गुणस्थान कहे गये हैं। दर्शनसार भाग-2 में इन गुणस्थानों की संख्या 14 बताई गई है।

उवसम्मताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स। शास्त्रीय विकास के क्रम में गूढ़ रहस्यों को समझने हेतु इन गुणस्थानों को निम्न नामों से भी जाना जाता है।

मिथ्यात्व का आस्वाद---------------प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानक
सम्यक्त्व का आस्वाद--------------चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक
श्रावक धर्म आस्वाद-----------------पंचम देशविरत गुणस्थानक
साधु धर्म स्वीकार-------------------षष्ठं सर्वविरत(प्रमत्त संयत) गुणस्थानक
अप्रमाद भाव आस्वाद---------------सप्तम अप्रमत्त संयत गुणस्थानक
उपशम श्रेणी आरूढ़------------------अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थानक

उपशान्त मोह प्राप्ति-------------------एकादश उपशान्त मोह गुणस्थानक

क्षपक श्रेणी आरूढ़--------------------अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थानक

क्षीण मोह अवस्था--------------------निज स्वरूप अवस्था(12वां गुणस्थान)

मूलशंकर देसाई कृत गुणस्थान नामक कृति में निम्नलिखित नामों से इन 14 गुणस्थानों का वर्णन किया गया है-

1. मिथ्यात्व 2. सासादन 3. मिश्र 4. अविरत सम्यक्त्व 5. देश संयत 6. प्रमत्त संयत 7. अप्रमत्त संयत 8. अपूर्वकरण 9. अनिवृत्तिकरण 10. सूक्ष्म सम्प्राय 11. उपशांतमोह 12. क्षीणमोह 13. सयोगकेवली 14. अयोगकेवली।

दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध बाल ब्रह्मचारिणी डॉ. प्रमिला जैन कृत गुणस्थान मञ्जरी में प्रस्तुत इनके नामकरण में यहाँ भेद दिखता है- 2. सासादन की जगह सासादन सम्यक्त्व तथा 3. मिश्र की जगह सम्यक्त्व मिथ्यात्व ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्य श्रीमत विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. कृत गुणस्थानक प्रश्नोत्तर सार्द्धशतक में प्रस्तुत नामकरण भेद को इस प्रकार समझा जा सकता है- 3. मिश्र की जगह सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान 5. देश संयत की जगह देश विरति या विरताविरत 8. अपूर्वकरण की जगह निवृत्तिकरण 9. अनिवृत्तिकरण या बादर सम्पराय गुणस्थान।

डॉ. सागरमल जैन कृत गुणस्थान सिद्धान्तः एक विश्लेषण तथा जीव समास नामक कृतियों में नामकरण भेद इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है – 4. अविरत सम्यक्त्व की जगह अविरत सम्यक्दृष्टि 9. अनिवृत्तिकरण की जगह अनिवृत्ति बादर गुणस्थान ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध आचार्य रत्नशेखर सुशील सूरीश्वरजी म. सा. कृत चौदह गुणस्थान में इस प्रकार स्पष्टता की गई है कि गुणश्रेणी के चौदह स्थानक ही गुणस्थान है – **चतुर्दश गुणश्रेणि स्थानकानि तदादिमम्। मिथ्यात्वाख्यां द्वितीयंतु, सास्वादनामिधम।तृतीयं मिश्रकं चतुर्यं सम्यग्दर्शनमव्रतम्। श्राद्धत्वं पञ्चमं षष्ठं प्रमत्त-श्रमणामिधम।।सप्तमं त्वप्रमत्तं चा पूर्वात् करणमष्टमम्। नवमं चानिवृत्त्याख्यं, दशमं सूक्ष्म लोभकम।। एकादशं शान्तमोहं, द्वादशं क्षीणमोहकम्। त्रयोदश सयोग्याख्यमयोगाख्यं चतुर्दशं।**

यहाँ नामकरण भेद को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है – 4. अविरत सम्यक्त्व की जगह अविरत सम्यक्दृष्टि 5. देश संयत की जगह देश विरत 10. सूक्ष्म सम्प्राय की जगह सूक्ष्म लोभ 11. उपशांतमोह की जगह शांत मोह।

उपर्युक्त वर्णित विभिन्न अभिगमयुक्त विचारों का विश्लेषण करने के पश्चात आध्यात्मिक विकास की स्थितियों को 14 गुणश्रेणियों या विकास क्रमों में वर्गीकृत कर स्पष्ट किया जा सकता है।

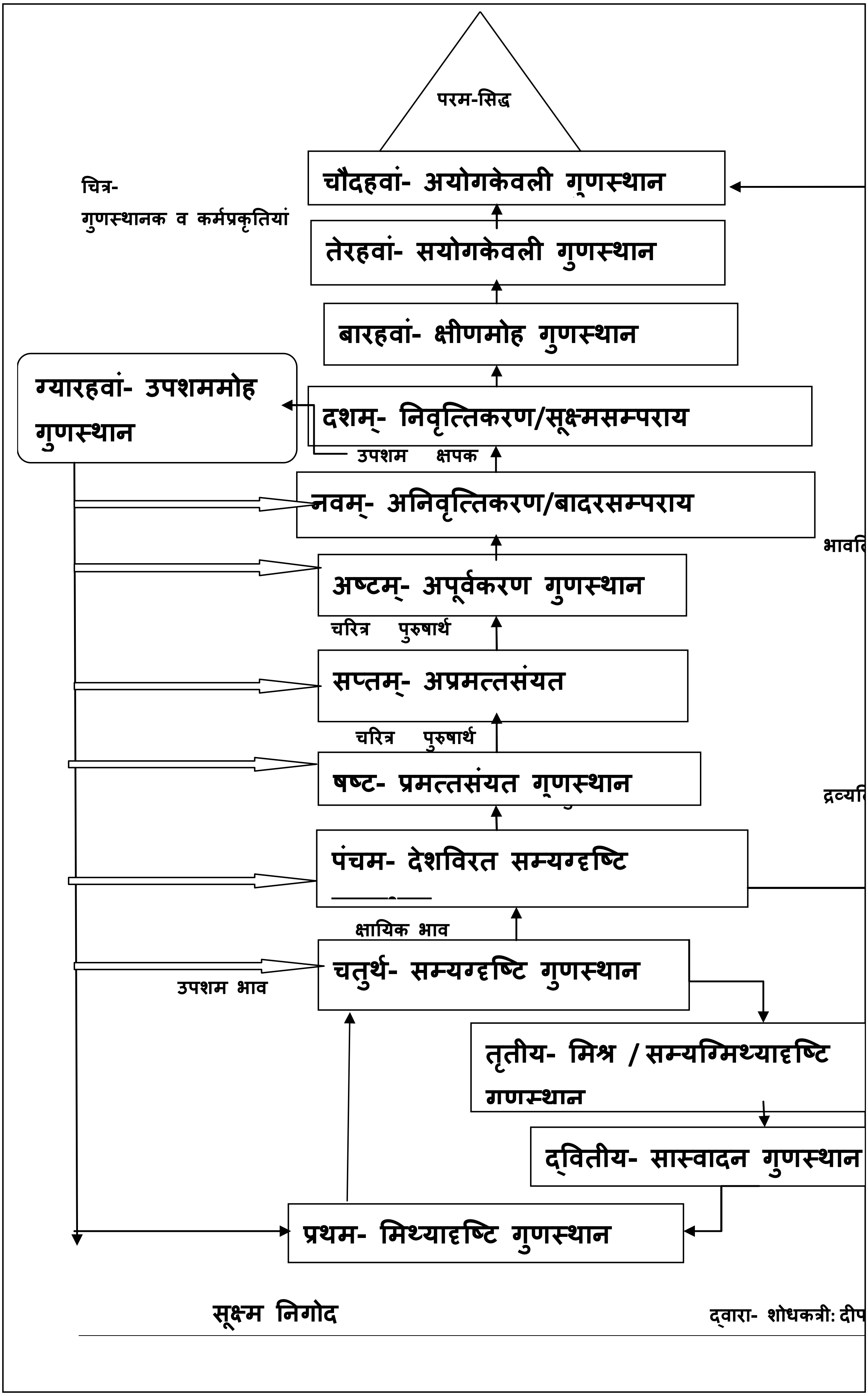
परम-सिद्ध
चित्र-
गुणस्थानक व कर्मप्रकृतियां
चौदहवां- अयोगकेवली गुणस्थान
तेरहवां- सयोगकेवली गुणस्थान
बारहवां- क्षीणमोह गुणस्थान
ग्यारहवां- उपशममोह गुणस्थान
दशम्- निवृत्तिकरण/सूक्ष्मसम्पराय
उपशम क्षपक
नवम्- अनिवृत्तिकरण/बादरसम्पराय
अष्टम्- अपूर्वकरण गुणस्थान
चरित्र पुरुषार्थ
सप्तम्- अप्रमत्तसंयत
चरित्र पुरुषार्थ
षष्ट- प्रमत्तसंयत गुणस्थान
पंचम- देशविरत सम्यग्दृष्टि
क्षायिक भाव
चतुर्थ- सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
उपशम भाव
तृतीय- मिश्र / सम्यग्मिथ्यादृष्टि गणस्थान
द्वितीय- सास्वादन गुणस्थान
प्रथम- मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
सूक्ष्म निगोद
द्वारा- शोधकत्री: दीप

चौदह गुणस्थान

1. मिथ्यात्व गुणस्थान-

इस स्थिति में जीव यथार्थ बोध से वंचित रहता है तथा मिथ्यात्व व सम्यक्त्व के मध्य भेद नहीं कर पाता। सत्य-असत्य को न पहचानते हुए वह दिग्भ्रमित व्यक्ति की तरह लक्ष्य से दूर भटकता रहता है। पर पदार्थों में सुख की खोज व सुख की अनुभूति करता है। अज्ञानता के चलते वह आन्तरिक सुख अर्थात् परमानन्द का बोध व विचार नहीं कर पाता है। विवेक शून्यता का प्रभाव उसके आचरण में छा जाता है। बाह्याडम्बरों, कर्मकाण्ड, पशुबलि आदि को धर्म मानना भी मिथ्यात्व है। वासनात्मक एवं आध्यात्मिकता के प्रतिकूल विभिन्न दुष्प्रवृत्तियां इस पर हावी रहती हैं जो उसे नैतिक आचरण व सत्य से वंचित रखती है। जिस प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव अपने हित अहित का विचार करने में असमर्थ रहता है वे जीव मिथ्यादृष्टि जीव कहे जाते हैं जैसे- ज्वर से पीड़ित मनुष्य को मधुर रस भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता है वैसे ही उन्हें धर्म भी अच्छा मालूम नहीं होता है।

गमन की अपेक्षा से-

1- मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव यदि अधिक से अधिक ऊपर के गुणस्थान में जायेगा तो वह सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक जा सकता है अर्थात् प्रथम बार में ही वह आधे गुणस्थानों को पार कर जाता है क्योंकि कुल गुणस्थान चौदह ही हैं और उसने प्रथम बार में ही सातवां गुणस्थान प्राप्त कर लिया है।

2- कोई प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिगीं मुनिवर इस मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे विरताविरत गुणस्थान में भी गमन कर सकता है।

3- कोई द्रव्यलिगीं श्रावक प्रथम गुणस्थान से शुद्धात्मा के अवलम्बन के बल से सीधे पाँचवे विरताविरत गुणस्थानवर्ती हो जाते हैं।

4- द्रव्यलिगीं मुनिराज, द्रव्यलिगीं श्रावक अथवा अव्रती मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में जा सकते हैं।

आगमन की अपेक्षा से-

1- प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी संत भी अनादिकालीन कुसंस्कारों के पुनः प्रकट होने पर विपरीत पुरुषार्थ से निज शुद्धात्मा का अबलम्बन छूटने से तथा निमित्त रूप से यथा-योग्य कर्मों का उदय आने से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

2- पंचम गुणस्थानवर्ती विरता-विरत श्रावक भी अपने हीन अपराध से तथा उसी समय निमित्त रूप में यथा योग्य कर्मों के उदय से सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है।

3- क्षायिक सम्यक्दृष्टि को अन्य दोनों औपशमिक तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के जब श्रद्धा में विपरीतता आ जाती है तब उसी समय मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का उदय आने पर वह जीव सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता हैं

4- मिश्र गुणस्थानवर्ती भी मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकता है।

5- सासादन सम्यग्दृष्टि तो मिथ्यात्व गुणस्थान में आते ही हैं।

इस गुणस्थान अवस्थित आत्माएं दो प्रकार की मानी गई हैं-

(अ) **भव्य आत्मा**- जो भविष्य में कभी न कभी यथार्थ बोध से युक्त होकर नैतिक आचरण पथ पर अग्रसर हो सकेगी।

(आ) **अभव्य आत्मा**- जो कभी भी आध्यात्मिक पथ नहीं चल सकेगी अर्थात् अनन्त काल तक इसी स्थान में रहेगी।

इसी संदर्भ में पं. सुखलालजी ने कहा है कि प्रथम गुणस्थान में ऐसी अनेक आत्माएं हैं जो अपने राग द्वेषादि के तीव्रतम वेग को थोड़ा दबाए हुए है वे सर्वथा लक्ष्यानुकूल न होते हुए भी अविकसित आत्माओं से बोध-चारित्र की दृष्टि से कुछ ऊपर या बेहतर होती हैं। तार्किक तौर पर इस धारणा को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है- हरेक गुणस्थान मे जीव तीन अवस्थाओं से होकर गुजरता है यथा- आरम्भिक, मध्य तथा अंतिम संक्रमण काल। अग्रिम गुणस्थान की ओर प्रयाण करते हुए जब जीव उसी गुणस्थान के अंतिम छोर पर होता है तो विपरीत परिणामों की तीव्रता घट जाती है तो उसे इसी गुणस्थान की आरम्भिक स्थिति में अवस्थित आत्माओं से प्रथक करती है।

मिथ्यात्व के लक्षणः मिथ्यात्व के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं-

मिथ्यात्व भाव- एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि ही हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय धारण करने के बाद वह पुरुषार्थ द्वारा इन पाँच मिथ्यात्व भाव (एकान्त मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपरीत, विनय. एवं संशय मिथ्यात्व) का नाश कर लेता है।

(अ) **एकान्त मिथ्यात्व-** पदार्थ अनन्त गुण-पर्याय वाला है ऐसा तत्वार्थसूत्र में भी उल्लेख है। गुण अनादि- अनन्त या नित्य है जबकि पर्याय अनित्य। पदार्थ के गुण पर्याय को लेकर ऐसी मान्यता रखना कि पदार्थ अनित्य ही है, असत् ही है, अनेक ही है आदि एकान्त मिथ्यात्व है। सम्यक्त्वधारी जीव मानता है कि पदार्थ कथञ्चित नित्य तथा कथञ्चित अनित्य एवं इसी क्रम में सत्-असत. एक एवं अनेक रूप हो सकता है।

(ब) **अज्ञान मिथ्यात्व-** अज्ञानी जीव स्वर्ग-नरक व शुभाशुभ आदि में श्रद्धान नहीं रखता।

(स) **विपरीत मिथ्यात्व-** कुछ भी करते रहो उस क्रिया पुरुषार्थ से शुभ फल मिल जायेगा अर्थात् मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूपी पुरुषार्थ से भी (कर्मों से भी मुक्ति) संभव है ऐसा श्रद्धान विपरीत मिथ्यात्व है।

(द) **विनय मिथ्यात्व-** कुगुरू,कुदेव एवं कुधर्म की सविनय सेवा गुण के बजाय भेष-वेष को ही सच्चे पथ का अनुगामी मानकर अंध श्रद्धान करते रहना विनय मिथ्यात्व है।

(य) **संशय मिथ्यात्व-** जिन वचन गुणस्थानक रूप सच्चे मार्ग के प्रति शंकाशील होना संशय मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व के अन्य स्वरूप एवं भेद-

1. पुण्य भाव में धर्म मानना
2. कर्मोदय जनित पुदगल अवस्थाओं को अपनी (जीवात्मा की) अवस्था मानना।

3. पर मेरा कर्ता है या में पर का कर्ता हूँ ऐसा मानना। ज्ञातव्य है कि गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सभी मोह प्रकार के मिथ्यात्व से दूर किया था।

4. देवी देवता मेरा कल्याण कर सकते हैं ऐसा श्रद्धान

5. पदार्थ में अच्छे बुरे का श्रद्वान अर्थात् पदार्थ अच्छा है या बुरा

6. कुदेवों में देव बुद्धि का श्रद्धान

7. कुधर्म में धर्म मानना

दृष्टि- जब तक वासना का यम रूप से त्याग न किया जावे तब तक वह नियम से अपना फल देगी। ये वासनाएं मन-हृदय का विषय हैं। एक व्रती और अव्रती की समान क्रियाओं में भावनाएं अलग हो सकतीं हैं (श्रावक की भक्ति व मुनि की भक्ति) जिससे कर्म बंध भी अलग-अलग होता है। (लेश्या को लेकर भी इसकी स्पष्टता की जा सकती है) प्राणीं को काटता एक कसाई जीव को काटता तथा डाक्टर मनुष्य के आपरेशन समान क्रिया करता है तो यहाँ भावों की तीव्रता उसी उद्देश्यानुरूप होती है। आलोचना पाठ में कहा गया है- विपरीत एकांत विनय के संशय आज्ञान कुनय के। इसका भावार्थ है-

- एकान्तिक अवधारणा- पक्षपातपूर्ण, पूर्वाग्रह मोह से प्रेरित एक पक्षीय अवधारणा।
- विपरीत धारणा- जो सत्याचरण से प्रथक हैं।
- वैनयिकता- रूढ़िवादी परम्पराओं से बँधी हुई विनय।
- संशय- जिन वचनों में शंका करना।
- अज्ञान- विवेक रहित
- कुगुरु,कुदेव,कुधर्म में रागादिक भावों में श्रद्धा रखने वाला
- इस गुणस्थान के उत्तरार्ध में सम्यक्त्व अभिलाषी जीव हो सकते हैं इस दृष्टि से मिथ्यात्व नामक प्रथम श्रेंणी को गुणस्थान कहा है।
- इसमें एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, भवाभिनन्दी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव आते हैं।
- अभव्य आश्रयी मिथ्यात्वी का काल अनादि अनन्त है तथा भव्य मिथ्यात्वी जीव की
- दो कालावधि- अनादि सन्त और सादि सन्त है।
- मिथ्यात्व गुणस्थान से नीचे किसी गुणस्थान का अस्तित्व नहीं है।
- मिथ्यात्व गुणस्थान के दो भेद हैं- तात्त्विक और अतात्त्विक।

पं. दौलतरामजी ने छः ढाला में मिथ्यादृष्टि जीव के निम्न लिखित लक्षण कहे हैं-

ऐसे मिथ्यादृग ज्ञान चरण वश भ्रमत भरत दुख जन्म मरण।छ. ढा.-2।।

अर्थात् जीव मिथ्या दर्शन मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्र के वशीभूत होकर संसार में परिभ्रमण करता है।। जीवादि सात तत्वों के विपरीत श्रद्धान अग्रहीत मिथ्यादर्शन है, कुगुरु, कुदेव व कुधर्म की सेवा गृहीत मिथ्यादर्शन है। जो दर्शन मोहनीय कर्म को मजबूत कर सकता है। इनसे सम्बन्धित एकान्त दूषित निन्दनीय, विषय-वासना से पोषित ज्ञानादि का

श्रवण व समझाना मिथ्याज्ञान है। आत्मिक शुद्धता के स्थान पर ख्याति, लाभ, सम्मान व धन आदि की चाह में केवल शरीर को कृश(दुर्बल) करने वाली क्रियाएं तथा जिन के विपरीत क्रियाओं को पोषित करने वाला आचरण करना गृहीत चारित्र है।

आचार्य हरिभद्र ने मार्गाभिमुख अवस्था के चार विभाग बताए हैं- मित्रा, तारा, बला व द्रीपा। यद्यपि इन सभी वर्गों में रहने वाली समस्त आत्माएं असत् दृष्टिकोण वाली होती हैं तथापि प्रगाढ़ता के प्रमाण में अंतर होने से उपरोक्त भेद तर्कसंगत हैं। जैसे-जैसे आत्मा मिथ्यात्व गुणस्थान में उत्तरार्ध की ओर बढ़ती है वैसे – वैसे असत् भाव बोध की गहनता कम होती जाती है. मिथ्यात्व भाव की अल्पता होते ही अंतिम चरण में आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण एवं अनावृत्तिकरण नामक ग्रंथभेद की प्रक्रिया से गुजरते हुए चतुर्थ गुणस्थान में सफलता से प्रवेश कर लेती है।

गुणस्थान के परिप्रेक्ष्य में मिथ्यात्व के कुछ अन्य भेद (प्रथक नामों से) भी बताये गये हैं-

मिथ्यात्व गुणस्थान- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की ये उदय-जन्य अवस्था है। मोहनीय कर्म के औदायिक परिणाम ही मिथ्यात्व मोहनीय कर्म है। मिथ्यात्व मोहनीय के पांच भेद हैं-

(अ) **अभिग्रहिक मिथ्यात्व-** तत्त्व बोध के अभाव में पदार्थ का यथार्थ अर्थ न समझने की चेष्टात्मक जड़ता। आगम विरुद्ध कुलाचार को प्राथमिकता देना। जो तत्त्व परीक्षा करने में असमर्थ हो किन्तु गुराश्रित हो जिन वचनों में श्रद्धावान हो वह समकिती है।

(ब**) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व-** जड़ता नहीं किन्तु मिथ्यात्व का भी विरोध नहीं—सत्य असत्य की परीक्षा किये बिना सही दर्शनों को समान मानना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। यहां तत्त्व दर्शन-स्वदर्शन का अज्ञान जरूर है किन्तु आग्रह नहीं।

(स) **अभिनवेशक मिथ्यात्व-** असत्य को ही सत्य सिद्ध करने का हठाग्रह- अपना पक्ष असत्य होने पर भी उसे सत्य सिद्ध करने हेतु आग्रहशील बनना अभिनवेशक मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व में सन्देह के चलतेव्यवस्थाओं-असत्य मानकर उन्हें गलत सिद्ध करने का आग्रह रखना।

(द) **सांशयिक मिथ्यात्व—** जिन वचन की प्राथमिकता पर संदेह- जिन वचनों के प्रति शंकाशील बनना सांशयिक मिथ्यात्व है।

(य) **अनाभोगिक मिथ्यात्व—** असमझ-शक्ति क्षमता जनित मिथ्यात्व – जीव की जड़ता हठपूर्ण भागीदारी नहीं होती- पंचेन्द्रिय जीव जो मुग्धावस्था में हैं तत्त्व-अतत्त्व को समझने की शक्ति से रहित हैं, तथा एकेन्द्रिय जीवों को होने वाला मिथ्यात्व को अनाभोगिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

2. <u>सास्वादन गुणस्थान-</u>

सम्मत्तो रयण पब्ब विहरादोमि।।

सम्यक्त्व की विराधना = आसादन तथा आसादन से युक्त = सासादन

यह गुणस्थान 11वें और चौथे गुणस्थान से पतन के (फलस्वरूप) बाद प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदि का उदयादि नही होता। इस गुणस्थान वाले जीव का नरकायु का बंध नहीं होता है। अर्थात् यह भी कहा जा सकता है

कि नरकायु का बंध करने वाले जीव का सासादन गुणस्थान में मरण नहीं होता। सासादन गुणस्थान मिथ्यात्व गुणस्थान और उससे ऊपर के गुणस्थान के मध्य की स्थिति है जब कोई जीव ऊपर के गुणस्थानों से गिरता है तो नीचे के गुणस्थानों में पहुँचने के पहले की स्थिति को सासादन गुणस्थान कहा जाता है। **जैसे पहाड़ की चोटी से यदि कोई आदमी लुढ़केते जब तक वह जमीन पर नहीं आ जाता तब तक यह भी नहीं कहा जासकता कि वह ऊपर है या जमीन पर। इस गुणस्थान में जीव पतोन्मुख अवस्था में आते हुए क्षणिक विश्राम करता है।**

सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नियम से नीचे मिथायात्व गुणस्थान में ही गमन करता है। जैसे- **कोई फल पेड़ से नीचे गिर रहा हो तो वह नियम से नीचे जमीन पर ही गिरता है बीच के अन्तराल में वापस पेड़ पर नहीं जा सकता है वैसे ही सासादन जीव का सम्यक्त्व छूटने से मिथ्यादृष्टि होना ही अनिवार्य है** फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थान से यथा सम्भव ऊपर के सर्व गुणस्थानों में पुनः पुरुषार्थ से गमन करना सम्भव है। अर्थात् अन्य शब्दों में- सम्यकदर्शन रूपी रत्नगिरि के शिखर से जो जीव मिथ्यात्व भूमि की ओर अभिमुख हो चुका है , सम्यक्त्व-(सम्यग्दर्शन) नष्ट हो चुका है किन्तु अभी मिथ्यात्व भी प्राप्त नहीं हुआ है उसे सासादन गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

सम्मत्तरयणपव्वय सिहरादो, मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासिद सम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो।।

(ध.2। 2।11। 166। गा. 108 गो.जी.20)

सम्यक्त्व रूपी रत्न शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व रूपी भूमि के सम्मुख हो चुका है, अतएव जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो रहा है परन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है, उसे सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं। शास्त्रों में सास्वादन गुणस्थान को ससादन के नाम से लिखा गया है जो कि उसका प्राचीन रूप मालूम होता है इसलिये इस शब्द का प्रयोग ज्यों का त्यों किया गया है। द्वितीय क्रम में स्थित यह गुणस्थान विकास क्रम का परिणाम न होकर पतनोन्न्मुख अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् जब आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान में गिरती है तब उसे तृतीय व द्वितीय गुणस्थानों से होकर गुजरता है। यह एक मध्यावस्था है जिसमें जीव को तो सम्यग्दृष्टि कहा जा सकता है और न ही मिथ्यादृष्टि। ऐसी दशा में जीव सम्यक्त्व से च्युत तो हो चुका है किन्तु अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है। इस मध्यावधि काल क्षणिक(छः अवली) होता है। यथा वृक्ष से टूटकर फल का जमीन तक पहुँचने का मध्यकाल। यदि मिथ्यात्व को अयथार्थ बोध और सम्यक्त्व को यथार्थ बोध के रूप में परिलक्षित करें तो सास्वादन (स + आस्वादन) वह स्थिति है जिसमें मोहासक्ति के चलते अयथार्थता में जाने से पूर्व यथार्थता का क्षणिक आस्वादन या आभास रहता है ठीक उसी प्रकार जैसे वमन के पश्चात वामित वस्तु का आस्वाद। सासादन गुणस्थान का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल 6 आवली मात्र है। सास्वादन गुणस्थान में 5 स्थावर को छोड़कर 19 दण्डक होते हैं जबकि अविरत गुणस्थान में 24।

उवसम्मताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।

ससायणसम्मतं तयंतरालंमिछायलिअं ।। ध.।।

उपशम श्रेणी पर चढी हुई आत्मा जब अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् पतन की ओर उन्मुख होती है तो ग्यारहवें गुणस्थान से क्रमशः गिरती हुई दूसरे सास्वादन गुणस्थान को प्राप्त होती है। इस गुणस्थान में जीव के सम्यक्त्व अंश का अनुभव ठीक उस तरह रहता है जैसे खीर खाने के पश्चात् वमन होने पर खीर का अस्वाद। इस गुणस्थान में अल्प समय के लिए सम्यक्त्व का आस्वादन है। धवलासार (गाथा-1,1,10) में कहा गया है कि-

आसादनं सम्यक्त्वविराधनं सह आसादनेन वर्तत उति सासादनो विनाशित सम्यग्दर्शनोआप्त मिथ्यात्व कर्मोदय जनित परिणामो मिथ्यात्वभिमुखः सासादन इति मण्यते।

जो सम्यक्त्व की विराधना सहित है, उसे सास्वादन कहते हैं। जो प्राणीं सम्यक्त्व रूपी प्रासाद से गिरा हुआ है और जिसने मिथ्यात्व की भूमि का स्पर्श नहीं किया है, सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व इन दोनों के मध्य की जो अवस्था है, उसे सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

अविसम्त्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।

अप अण्ण वरूवयादो णासिय सम्मीति सासणक्खो सो।। (गो.जी. 19)

जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व एवं द्वितियोपशम सम्यक्त्व की स्थिति कम से कम एक समय, अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण शेष रहती है, तब इस जीव के अनन्तानुबंधी कषाय के चार भेदों में से किसी एक भेद का उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना होने से आत्मा नीचे गिरती है और जब तक मिथ्यात्व भूमि का स्पर्श नहीं करती तब तक यह अवस्था सासादन गुणस्थान की है। असन का अर्थ होता है नीचे गिरना और आसादन का अर्थ होता है- विराधना। गाथा में जो 2 अण्ण अण्ण वरूवयादो का उल्लेख किया गया है उसका अर्थ है कि अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें से किसी का भी उदय होते ही सासादन गुणस्थान होता है। इसी प्रकार मान प्रेरित, माया प्रेरित और लोभ प्रेरित सासादन गुणस्थान हुआ करता है।

यह सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर गिरने की एक मध्य स्थिति है जिसमें सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद (आस्वादन के बाद) वहाँ से च्युत तो हो चुका है किन्तु अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है सम्यक्त्व रस के आस्वाद का हल्का सा अनुभव शेषाशं रूप में है। इस अवस्था में न तो वह तत्त्व ज्ञान का धारक है और न ही ज्ञान शून्य। इस स्थिति को सादिशान्त कहते हैं। इसका जघन्य काल एक समय, उत्कृष्ट काल छह आवलि का है। दूसरा गुणस्थान भव्य जीवों को ही प्राप्त होता है(जो पहले भव्य रहे हैं)

3. <u>मिश्र या सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान-</u>

यह गुणस्थान भी जीव के चतुर्थ गुणस्थान से पतनोन्मुख हो जाने पर पश्चातवर्ती प्रथम सोपान है अर्थात् सामान्य स्थिति नियम यह है कि इस गुणस्थान में आत्माएं चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर पहुँचती हैं। आरम्भ की व्यवस्थाओं के अनुरूप उत्क्रान्ति की स्थिति में कुछ आत्माएं प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान तक पहुँचती हैं किन्तु ये वे आत्माएं हैं जिन्होंने पहले कभी प्रथम गुणस्थान से निकलकर चतुर्थ गुणस्थान का बोध कर

लिया हो। ऐसा इसलिए भी है कि मिश्र गुणस्थान सम्यक्त्व के बोध से च्युत होने अथवा उसमें संशय की स्थिति का परिणाम है। अतः संशय उसे ही हो सकता है जो मूल स्थिति से परिचित रहा हो। इस गुणस्थान में साधक सत्य-असत्य के मध्य झूलता रहता है। अनिश्चय के चलते मानसिक या वैचारिक संघर्ष के परिणामस्वरूप उपलब्ध दो परस्पर विरोधी स्थितियों में से किसी एक का चयन करता है। यहाँ यदि उसका झुकाव वासनात्मक पक्ष की ओर निर्णय करता है यो वह जीव पतित होकर अंततः प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पहुँचता है तथा इसके विपरीत यदि निर्णयात्मक रुझान नैतिक आचरण या सम्यक्त्व व्यवहार के अवबोधन की ओर दृढ़ होता है तो वह चतुर्थ गुणस्थान में चला जाता है। अन्तर्मुहूर्त के इस वैचारिक संघर्ष में यदि पाशविक शक्तियां इस पर हावी हो जाती हैं तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। कहा भी है- सम्ममिच्छाइट्ठी = सामन्त से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है

दहिगुण मिक्वामिट्सं पहुभावं णेव करिहुं सक्कं।

एवं मिस्सयभावो सम्मसिच्चो न्ति णायब्बो।।109 ध.।।

जिस प्रकार दही और गुड़ को मिलाकर उसका अलग-अलग अनुभव नही किया जा सकता, दोनों मिश्र भाव को प्राप्त हो जाते है उसी प्रकार एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के रूप मिले भाव को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

जैसे- कोई व्यक्ति मंदिर में जाकर साम्य भाव से वीतराग प्रभु की उपासना करता है तथा वहीं एहिक सुख की प्राप्ति या सरागी देव देवियों के डर से उनकी भी उपासना करता है तो ऐसे व्यक्ति को सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला कहा जा सकता है। इस गुणस्थान में जीव संयम को ग्रहण नही करता। **मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता-** कहा भी है-

णय मरइ णेय संजममुवेई वह देश संजम वाणि।सम्मामिच्छादिट्ठीण उ मरणतं समुतघाओ।।

इस अवस्था में न जीव मरता है न संयम और न देश संयम को प्राप्त होता है तथा उसके मरणान्तिक समुदघात नहीं होता। अनिश्चय की अवस्था में तृतीय मिश्र गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती क्योंकि मृत्यु उसी अवस्था में संभव है जिसमें आयु कर्म का बन्ध हो सके. चूँकि इसमें आयु कर्म का बन्ध नहीं होता इसलिए मृत्यु भी नहीं होती। ऐसा उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्रजी ने गौम्मटसार में किया है। गीता में अर्जुन के चरित्र के माध्यम से अनिश्चयात्मक स्थिति का सटीक चित्रण देखने को मिलता है। औदायिक मिश्रकाय योग में उपशम सम्यक्त्व का सदभाव नहीं पाया जाता । इस गुणस्थानधारी की मान्यता न तो शुद्ध होती है और न ही अशुद्ध। इस गुणस्थानधारी को सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों पर ही श्रद्धा होती है किसी एक के प्रति न तो राग होता है और न द्वेष। मिश्र गुणस्थानधारी के न तो आयुष्य बंध होता है और न ही मृत्यु। मिश्र गुणस्थान की भाँति 12वें क्षीण मोह और 13वें सयोग केवली गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती। मिथ्यात्व सास्वादन और अविरत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानकों में से किसी एक को लेकर जीव परभव में जाता है। मिश्र गुणस्थान सादिसान्त है और इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

4. <u>अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान-</u>

वास्तव में यह जीव की आध्यात्मिक विकास यात्रा का प्रथम चरण है जिसमें आत्मा को नैतिक आचरण का बोध होता है। आत्मा में सत्य –असत्य को जानने-पहचानने की क्षमता या योग्यता का प्रदुर्भाव होता है. इस गुणस्थान में जीव का दृष्टिकोण तो सम्यक् हो जाता है किन्तु आचरण सम्यक नहीं हो पाता। अर्थात् वह अभी आरम्भिक स्थिति में ही होता है। इस गुणस्थान में साधक की वासनाओं पर संयम लाने की क्षमता क्षीण होती है किन्तु वह इसमें रहते हुए सतत निम्न सात कर्म प्रकृतियों के क्षय(नष्ट करना), उपशम(दबाना),एवं क्षयोपशम(क्षय और उपशम के मध्य की स्थिति जो उपशम से अधिक दृढ़ता का प्रकटीकरण करती है किन्तु क्षय की पूरिणता से अभी निम्न स्थिति में है) में लगा रहता है ये सात कर्म प्रकृतियां हैं-

1. अनन्तानुबन्धी (स्थाई तीव्रतम) क्रोध, 2. अनन्तानुबन्धी मान 3. अनन्तानुबन्धी माया (कपट) 4. अनन्तानुबन्धी लोभ 5. मिथ्यात्व मोह 6. मिश्र मोह और 7. सम्यक्त्व मोह।

जब आत्मा इन सात कर्म प्रकृतियों का सम्पूर्ण क्षय करके सम्यक् क्षायिक को प्राप्त कर लेता है फिर वह इस गुणस्थान से वापस नहीं गिरता । उसका सम्यक्त्व स्थाई हो जाता है किन्तु यह चतुर्थ गुणस्थान के उत्तरार्ध की स्थिति है। जब वह इन सात कर्मप्रकृतियों का क्षय न करके मात्र दमन करता है अर्थात् वासनाओं को दबाने में यत्नरत रहता है तब इस दृष्टिकोण में अस्थायित्व का अहसास रहता है इसे ही औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। इस स्थिति में संयोगो व दृढ़ता की प्रतिकूलता होने पर इस गुणस्थान से पतित होने की संभावनाएं बनी रहती हैं। यह प्रकटीकरण अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट) के अन्दर ही हो सकता है। इस अवस्था में जीव दर्शनमोहनीय का क्षय, क्षयोपशम, उपशम कर लेता है किन्तु चारित्रमोहनीय का क्षय शेष हो तो इसे सम्यग्दृष्टि जीव कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थानधारी आत्माएँ मात्र सुदेव, सुगुरू व सुधर्म को मानतीं हैं।

इस गुणस्थान का आरम्भिक दौर विवशतापूर्ण है जिसमें जीव अच्छे – बुरे का ज्ञान होते हुए भी बुरे से प्रथक नहीं रह पाता है जैसा कि महाभारत के वर्णन में देखने को मिलता है यथा- कौरवों के अनुचित पक्ष में खड़े पितामह भीष्म व महात्मा विदुर की विवशता। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति साकार या ज्ञानोपयोग की अवस्था में जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है तथा तेजो लेश्या के जघन्य अंश में वर्तमान जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

सयारे पदढ़वओ णिटठवओ माज्झेमोय भय णिज्जो।

जोगे अण्णदरम्मि दु जहण्णाए तेउल्लेसाए।। ध.ग्रंथ. खण्ड6. पृष्ठ 239।।

असंजद सम्माइड्ठी- जिसकी दृष्टि (श्रद्धा) समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और जो इससे रहित हैं वह असंयत सम्यग्दृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के तीन प्रकार हैं- क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्ग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि।

सम्माइड्ठीजीवो उवइड्ढं एवयणं तु सदठदि।

सदठदि असब्भावं आणाण माणो गुरु णियोगा।।110.।।ध.

णो इदिएसु विगदो णो जीवे थाको तसे वापि।

जो सहठदि जिणुत्तं सम्माइड्डी अविरदो सो।।111।।ध.

जो सम्यग्दृष्टि जीव जिन वचनों में पूर्ण श्रद्धान करता है किन्तु गुरु वचनों के विपरीत अर्थ पर श्रद्धान कर लेता है वह इस असंयत गुणस्थान को धारण करने वाला होता है एसा जीव कालाब्धि के चलते जघन्य मुहूर्त में लेकर उत्कृष्ट -66 सागर पर्यन्त तक कर्मो की निर्जरा कर सकता है। आगे के सभी गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं।

1- सादि या अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में आ सकते हैं।

2- सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों का भी अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में गमन कर सकता है।

3- देशविरत गुणस्थावर्ती जीवों का अपनी पुरुषार्थ- हीनता से अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में आना सम्भव है।

4- छठवें गुणस्थानवर्ती महा मुनिराज भी सीधे चौथे गुणस्थान में आसकते हैं। उपरिम गुणस्थानों से नीचे के गुणस्थानों में आये हुए मुनिराज तो तत्काल आत्माश्रित ध्यान मग्नता का विशेष पुरुषार्थ करके सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पहुँचकर प्रचुर स्व-संवेदन रूप विशिष्ट अनुपम आनन्द का अनुभव करते हैं।

<u>सम्यक्त्व के अन्य 10 भेद-</u>

1- **विसर्ग रुचि-** परोपदेश के बिना अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञान से जीवादि तत्वों को जानने का ज्ञान विसर्ग रुचि है।

2- **उपदेश रुचि-** छद्मस्थ व जिनोपदेश के द्वारा जीव तत्त्व पर श्रद्धान उपदेश रुचि है।

3- **आज्ञा रुचि-** इसके कारण जीव राग द्वेष मोहादि के दूर होने पर वीतरागत्व में रुचि करता है।

4- **सूत्र रुचि-** अंग प्रविष्टि व बाह्य सूत्रों को बढाता हुआ सम्यक्त्व की ओर जाता है।

5- **बीज रुचि-** इस दशा में जीव का सम्यक्त्व भाव पानी में डाले हुए तेल की तरह एक पद से दूसरे पद में फैलता है।

6- **अभिगम रुचि-** जिसे 11 अंग प्रकीर्ण दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है यह अभिगम रुचि का परिणाम है।

7- **विस्तार रुचि-** विस्तार रुचि से जिसे दूसरों के सभी भाव सभी प्राणी और नय विधि से उपलब्ध हैं।

8- **क्रिया रुचि-** इससे दर्शन. ज्ञान, चारित्र, नय, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में साधक की वास्तविक रुचि होती है।

9- **संक्षेप रुचि**- इसकी मात्र स्वल्प ज्ञान जनित श्रद्धान संक्षेप रुचि है।

10- **धर्म रुचि-** जिन श्रुत धर्म व चारित्र धर्म में श्रद्धा रखने वाला।

सम्यग्दर्शन के 5 लक्षण- (कसौटी परक पैमाना)

1. **कृपा-** दूसरे जीवों के दुःखों को दूर करने की इच्छा कृपा या अनुकंपा कहलाती है किन्तु यह पक्षपात या स्वार्थ रहित हो। यह अनुकंपा दो प्रकार की होती है-

(अ) **द्रव्य अनुकंपा** - किसी प्राणी के शारीरिक कष्टों को देखकर द्रवित हो जाना तथा उन्हें यथा शक्ति दूर करने का प्रयास करना।

(**ब) भाव अनुकंपा -** प्राणियों को सांसारिक भ्रमण जाल में डूबा या फँसा व धर्माभिमुख देखकर तात्विक अनुकंपा करना।

2- प्रशम- अनन्तानुबन्धी तीव्र कषाय का निमित्त होने पर भी उसे विपाक द्वारा असफल बनाना। क्रोध न करना प्रशम है।

3- संवेग- मोक्ष सुख की तीव्र अभिलाषा सम्यक्त्व संवेग है। संसार में रहते हुए भी मन तो मोक्ष की चाहना में लगा हो।

3- निर्वेद- बन्धन रूप संसार से वैराग्य. होना निर्वेद है। सम्यग्दृष्टि आत्मा अविरति के उदय से भले ही संसार त्याग न कर सके किन्तु उसकी अंतरंग इच्छा तो संसार त्याग की ही होती है।

5- अस्तिकाय- आत्मादि के अस्तित्व एवं जिन वचनों में श्रद्धान अस्तिकाय या आस्तिकता है। "

अत्थिअ 1- णिच्चो 2- कुणइ 3- कयंच वेसइ अत्थि णिव्वाणं। अत्थिअ मुक्कखोवाओ छ छस्सम्मकस्स ठाणाइं।"

सम्यग्दर्शन के अन्य भेद-

(अ). औपशमिक सम्यक्त्व- यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा ग्रंथि देश की प्राप्ति (मोहादि कर्मों के उदय होने पर उनसे बचकर भाग जाना)

(ब). क्षयोपशम सम्यक्त्व- यथा प्रवृत्तिकरण से ग्रंथि देश की प्राप्ति के बाद आत्मा अपूर्व करण के द्वारा राग-द्वेष का भेदन करता है तथा उदय में न आये हुए मिथ्यात्व दलकों का क्षय व उपशम करके क्षयोपशम सम्यक्त्व ग्रहण करता है।

(स). क्षायिक सम्यक्त्व- जब आत्मा समस्त कषाय चतुष्क और तीन दर्शन मोहनीय(समकित, मिश्र, मिथ्यात्व) का सम्पूर्ण क्षय कर देती है तब क्षायिक सम्यक्त्व (चौथे,पाँचवें, छठे और सातवें में ये) प्रकट होता है जो कभी नष्ट नहीं होता है। ऐसा आत्मा उसी भव से मोक्षगामी होता है यदि उसने आगामी आयुष्य का बंध न किया हो।

5. देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान-

आध्यात्मिक विकास यात्रा का यह पाँचवा गुणस्थान नैतिक आचरण अवस्था की प्रथम सीढ़ी है। देशविरत गुणस्थान में साधक यथाशक्ति सम्यक् कर्तव्य पथ पर चलना आरम्भ कर देता है। देशविरत का आशय है- सांसारिक वस्तुओं के उपभोग में मर्यादाओं का पालन, विवेकपूर्ण तरीके से आवश्यकतानुरूप व मितव्ययतापूर्वक साधन-संसाधनों का ममत्व रहित उपयोग करते हुए साधना में रत रहना। अन्य शब्दों में वासनामय जीवन से आंशिक निवृत्ति की

अवस्था ही देश विरति है। इस गुणस्थान में साधक गृहस्थाश्रम में ही रहता है किन्तु वह क्रोधादि कषायों व हिंसादि प्रवृत्तिओं या भावनाओं पर थोड़ा – बहुत नियन्त्रण करने की क्षमता विकसित कर लेता है जो उसे चतुर्थ गुणस्थान में प्राप्त नहीं थी। पंचम गुणस्थान की प्राप्ति हेतु अप्रत्याख्यानी(अनियन्त्रणीय) कषायों का उपशान्त होना आवश्यक है इनकी अनुपस्थिति (अन्यथा) में जीव सम्यक्त्व नैतिक आचरण पथ पर बढ़ ही नहीं सकता इसलिए इस गुणस्थान में साधक में इन कषायादि वासनाओं पर आंशिक नियन्त्रण करने की क्षमता का विकास आवश्यक समझा गया है।

संयत और असंयत इन दोनों भावों के मिश्रण से जो गुणस्थान होता है उसे संयतासंयत गुणस्थान कहते हैं। **संजद संजदा।।13।। संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयत।** (ध.1/ 1/ 13) । गौम्मटसार जीवकांड में कहा गया है कि इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम तो नहीं रहता, किन्तु यहाँ इतनी विशेषता होती है कि अप्रत्याख्यानावरण का उदय न होने से एकदेश व्रत होते हैं।

णच्चक्खाण दयादो, संजम भावेण होदि णवरि तु।
थोव वादो होदि तदो, देस वदो होदि पंचमओ।।60।। गो. जी.
जो तस वहाउ विरदो अविरदओ तहय थावर वहादो।
एक समयम्हि जीवो विरदा विरदो विणेक्कमई।।
(गो.गा.31.ध./ 1/1 /13 गा.112)

जो जीव जिनेन्द्र देव में अद्‌वितीय श्रद्धा को रखता हुआ त्रस जीवों की हिंसा में विरत और उसी समय में स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होता है तथा "च " शब्द से बिना प्रयोजन स्थावर जीवों का भी वध नहीं करता उस जीव को विरता विरत कहते है। जो पाँच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त होते हुए असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा करते हैं। ऐसे विशिष्ट सम्यग्दृष्टि जीवों को संयमा संयमी कहा गया है। जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में यानी मृत्यु समय में शरीर भोजन और मन,वचन, काय के समस्त व्यापारों का त्याग कर कषायों को कृश करता हुआ पवित्र ध्यान के द्‌वारा आत्म शुद्धि की साधना करता है उसे साधक श्रावक कहा जाता है।

देहा हारी हित त्यागात, ध्यानशुद्ध आत्मशोधनम।
यो जीवतान्ते सम्प्रीतः सधयत्येषसाधकः।।सा. ध. अ.8 श्लोक 1।।

देशव्रती श्रावक तीन प्रकार के होते हैं- पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।

1. पाक्षिक श्रावक - पाक्षिक श्रावक सर्वथा अव्रती नहीं है। पक्षचर्या और साधक चर्या के द्‌वारा हिंसा का निवारण किया जाता है। इस संदर्भ में "पक्ष " का शाब्दिक अर्थ है सदा काल अहिंसा के पक्ष में रहना। उत्कृष्ट श्रावक 11 प्रतिमाधारी होता है। षट्‌आवश्यक पाक्षिक श्रावक की दिनचर्या के आवश्यक अंग है। पाक्षिक श्रावक किसी व्रत का पालन नहीं करता इसलिए सामान्य अर्थों में वह अव्रती है वह तो केवल व्रत धारण करने का "पक्ष" रखता है। सद

ग्रहस्थों की धार्मिक कुल क्रियाओं का पालन करने वालों को ही श्रावक माना गया है वह अधिक से अधिक असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान का अधिकारी होता है।

2- नैष्ठिक श्रावक - देश संयम का घात करने वाले अप्रत्याख्यानावरण कर्म के अभाव से क्रमशः व्रतों की बृद्धि करता हुआ दर्शन सामायिक आदि ग्यारह संयम स्थानों और उत्तम लेश्याओं को धारण करने वाला ग्रहस्थ नैष्ठिक श्रावक(ग्यारह प्रतिमा धारी) कहलाता है। ये प्रतिमाऐं हैं-

1-**दर्शन प्रतिमा -** संसार शरीर और भोगों से विरक्त तथा पंचपरमेष्ठी का भक्त ऐसा सम्यग्दृष्टि दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है। वह त्रस जीवों से युक्त मद्य, मधु एवं मांस आदि निन्दनीय वस्तुओं का कभी सेवन नहीं करता है।

2-**व्रत प्रतिमा-** पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत,चार शिक्षाव्रत का निरतिचार पालन करना व्रत प्रतिमा है।

3-सामायिक प्रतिमा- तीनों समय(सन्ध्याओं) में मन, वचन और काय को शुद्ध करके सामायिक करने को सामायिक प्रतिमा कहते हैं। शत्रु, मित्र, काँच, मणि, पाषाण, सुवर्ण आदि में राग द्वेष के अभाव को भी समता सामायिक कहा गया है।

4-**प्रोषधोपवास प्रतिमा-** प्रत्येक मास के चारों पर्वों(अष्टमी चतुर्दशी) में अपनी शक्ति को न छिपाकर जो प्रोषधोपवास का नियम लेता है उसे चार प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं।

5-**सचित्त त्याग प्रतिमा-** इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक सचित्त वनस्पति नहीं खाता और सचित्त(अप्रासुक) जल का भी त्यागी होता है।

6-**रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा-** सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट पूर्व और सूर्योदय के पश्चात् अड़तालीस मिनट के भीतर भोजन करना रात्रि भोजन का अतिचार माना जाता है। छठी प्रतिमाधारी निरतिचार रात्री भोजन त्याग व्रत का पालन करता है। स्वामी समतभद्र और कार्तिकेय के मत से इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक रात्रि में चारों प्रकार के आहार(खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय) का त्याग कर देता है।

7- **ब्रह्मचर्य प्रतिमा-** मन, वचन और काय से स्त्री मात्र का और स्त्री के लिए पुरुष मात्र की अभिलाषा न करने वाले को व्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक श्राविका कहते हैं।

8**- आरम्भ त्याग प्रतिमा-** जो जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापार आदिक आरम्भ के कार्यों से विरक्त होता है-कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो स्वयं न आरम्भ करता है, न कराता है और न उसकी स्वयं अनुमोदना करता है उसे आरम्भ त्यागी बतलाया है।

9-**परिग्रह त्याग प्रतिमा-** लज्जा निवारण और शरीर की रक्षा मात्र के उद्देश्य से कम से कम साधारण और अहिंसक साधनों से उत्पन्न हुए वस्त्रों के सिवाय अन्य समस्त परिग्रह आसक्ति का त्याग करना।

10- **अनुमति त्याग –** कृषि आदि आरम्भ में परिग्रह में विवाह आदि में तथा अन्य लौकिक कार्यो में अनुमति देने के त्याग को अनुमति त्याग प्रतिमा कहा गया हैं।

11- **उदिदष्ट त्याग प्रतिमा-** रत्नकांड श्रावकाचार के अनुसार ग्यारहवाँव्रती श्रावक घर त्याग कर वन में मुनियों के पास चला जाये और वहाँ गुरू के सामने व्रत धारण कर भिक्षा भोजन करके तपस्या करे और खंड वस्त्र अपने पास रखे, उसे उदिष्ट त्यागी श्रावक कहा गया है।

ग्रहतो मुनिवन मित्वा गुरुपवण्ठे व्रतानि परिग्रहा।

भैक्ष्या सनस्त पस्यन्तुत्कृष्टाश्चेल खण्धरः।।रत्न.247।।

जिनागम में ग्यारह प्रतिमाओं में से पहले की चार प्रतिमायें जघन्य मानी गयीं हैं इसके ऊपर की तीन अर्थात् सातवीं, आठवीं, नौवीं प्रतिमायें मध्यम और शेष दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमायें उत्तरोत्तर व्रतों के पालन और त्याग तपस्या की तारतम्यता के क्रम से सर्वोत्तम मानी गयीं हैं।

यदि साधक प्रमाद के वशीभूत नहीं होता तो आगे के गुणस्थानों में बढ़ जाता है इसके विपरीत प्रमादसहित होने पर वह इन नियन्त्रक क्षमताओं का समुचित उपयोग न कर पाने से पतनोन्न्मुख भी हो सकता है। वह प्रायश्चित आदि के द्वारा इन कषायादि परिणामों का विशुद्धीकरण करके अपनी इस स्थिति को बनाए भी रख सकता है और आगे भी ले जा सकता है। संजदा संजदा– जो संज्ञा होते हुए भी असंयत है।

जो तस वताउ विरओ अविरओ तह य थावर वहाओ।

एवक सम्मयाम्मि जीवो विरयविरओ जिणोक्कतामई।।112।।ध.

जो जीव जिन देव में अद्वितीय श्रद्धान रखता हुआ एक ही समय में त्रस जीवों की हिंसा से विरत (रहित) तथा स्थावर जीवों की हिसा से अविरत है तथा अल्प समय में शेष असंयम का धारी है वह संयतासंयत गुणस्थान वाला कहा जाता है। अर्थात्- कोई पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज पहले जितना शुद्धात्मा का आश्रय ले रहे थे उससे भी अधिक विशेष अधिक रीति से निज शुद्धात्मा का आश्रय लेकर अर्थात् शुद्धोपयोग द्वारा ही अप्रमत्तविरत गुणस्थान में गमन करने से भावलिंगी मुनि हो जाते हैं। भावलिंगी पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हो अथवा पंचम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी दो, पाँचवे से- चौथे गुणस्थान में अथवा तीसरे गुणस्थान में अथवा औपशमिक सम्यक्त्व साथ हो तो दुसरे गुणस्थान में अथवा परिणामों में विशेष अधःपतन करके सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में भी गमन कर सकते हैं।

1. प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज सीधे देशविरत में आ सकते हैं।

2. चौथे गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज अथवा द्रव्यलिंगी श्रावक देशविरत गुणस्थान में आ सकते हैं।

3. प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज अथवा द्रव्यलिंली श्रावक भी सीधे इस देशविरत गुणस्थान में आसकते हैं। इसे श्रावकपना कहा जा सकता है। इसमें जीव अपने आप को मुक्ति मार्ग के अनुकूल बनाने हेतु साधना में बाधक पाप प्रवृत्ति का आंशिक त्याग कर देता है। इस गुणस्थान की उत्कृष्ट अवधि "देशअना" अर्थात् 8वर्ष न्यून-कम पूर्वकोड़ वर्ष की होती है।

"षडानली सास्वादनं, समधिकत्रयस्त्रिंशत सागराणिचतुर्थं।

देशोनपूर्व-कोटि, पंचमकं त्रयोदशं च पुनः।।भाष्यकार महर्षि।।

सास्वादन की षडावली (छः आवली) 33 सागरोपम चतुर्थ गुणस्थान तथा पूर्वकोटि वर्ष देशविरति और सयोगकेवली गुणस्थान की है। पंचम गुणस्थानधारी जीव देव गति में उत्पन्न होता है तथा जघन्य 3 भव व उत्कृष्ट 15 भव में मोक्ष जाता है। प्रत्याख्यानी कषाय के उदय से यहाँ आत्मा सर्वविरति को नहीं स्वीकार पाती वह अप्रत्याख्यानी कषायों से मुक्त होती है। श्रावक के अणुव्रतों का पलन करना देशविरत गुणस्थान है।शास्त्र में श्रावक तीन प्रकार के बताए हैं। छहढाला में प. दौलतराम जी ने कहा है-

उत्तम, मध्यम, जघन्य त्रिविध के अन्तर आतम ज्ञानी।।छ.ढा.-3।।

उत्तम श्रावक - सचित्त आहार का त्यागी, नित्य एकाशन तप करने वाला, निर्मल ब्रह्मचर्य का पालक, महाव्रती होने की तीव्र इच्छा से ग्रह व्यापार का त्याग करने वाला उत्क्रष्ट श्रावक है।

मध्यम श्रावक – मार्गानुसरित के 35 गुणों का धारक, ग्रहस्थ के षट आवश्यक व 12 व्रतों का पालन(न्याय वैभव सम्पन्न) करने वाला मध्यम श्रावक है।

जघन्य श्रावक- आकुट्टी जाति हिंसा, मद्यपान, माँसाहार व सप्त व्यसन का त्य़ागी व नमस्कार मंत्र का धारक जघन्य श्रावक है।

6. <u>प्रमत्तसंयत या सर्वविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान-</u>

प्राकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सम्यग, यताः, विरताः, संयताः। प्रमत्ताश्च ते संयमाश्च प्रमत्त संयताः। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं, उन्हें प्रमत्त संयत कहते हैं ।

संजणणो कसायाणु दयादो, संजमो हवे जम्हा।
भल-जणाम-पमादो विय तम्हा हु पमत्त विरदोसो।।गो. जी. 32।।

इस गुणस्थान में आने वाला जीव सकल संयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषायों का उपशम होने से सकल संयमी तो होता है, किन्तु उसमें उस संयम के साथ- साथ संज्वलन और नौ कषायों का उदय रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं।

प्रमाद के भेद- प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं- यथा

विकहा तहा कसाया इंदिय गिद्धातहेव णय योग।
चदु-चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णस्सं।।गो.जी.34।।

चार विकथाऐं- स्त्रीकथा, भोजन कथा, राष्ट्र कथा, राज कथा। चार कषाय- सक्रोध, मान, माया, लोभ। पाँच इन्द्रिय- स्पर्शन, रसना, घ्राण,चक्षु और कर्ण। एक निद्रा, एक स्नेह प्रीति भाव, इस प्रकार प्रमाद के कुल पन्द्रह भेद हैं।

सर्वविरति गुणस्थान में जीव हिंसादि अनैतिक आचरण का पूर्णरूप से त्याग करके सम्यक्त्व के मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ना आरम्भ करता है उसमें कषायादि परिणामों के बाह्य प्रकटीकरण का अभावसा है जाता है यद्यपि वह आंशिक बीजरूप में विद्यमान रहती है। यह उसके मन में व्याकुलता पैदा करती है ऐसा तब ही होता है जब उसकी आत्मा इस बीजरूप प्रवृत्ति को छोड़ने के लिए छटपटाती रहती हो किन्तु छोड़ नहीं पाती। यदि वह इन अशुभ प्रवत्तियों पर

विजय प्राप्त करने सफल हो जाती है तो दृढ़ता से आगे बढ़ जाती है। वस्तुतः यह गुणस्थान एक विश्रामस्थली है जहाँ जीव अपने आंशिक अशुभ परिणामों पर नियन्त्रण हेतु सम्यक् दृढ़तारूपी शक्ति (इनके निरोध का साहस) का प्रदर्शन करता है। इस गुणस्थान में रहते हुए साधक में अशुभ भावों के प्रति अधिकांश विरति आ जाती है। श्रमण साधक छठवें-सातवें गुणस्थान के मध्य झूलतासा रहता है। ऐसा देह भाव के अस्तित्व के कारण होता है जहाँ अशुभ परिणामों अथवा आन्तरिक कषायादिक बीजपरूप आन्तरिक परिणामों पर विजय प्राप्त करते हुए वह सातवें गुणस्थान की ओर बढ़ता है। यहाँ देहभाव का आशय है- प्रमादरूपी अवरोध के चलते पतनोन्मुखता का आना इसी भाव के उत्पन्न होने से जीव पुनः छठे गुणस्थान में लौट आता है। इस गुणस्थान में मुर्च्छा या आसक्ति का अभाव पाया जाता है। इसमें साधक को पंद्रह कर्म प्रकृतियों का क्षय, उपशम व क्षयोपशम करना होता है यथा- अनन्तानुबन्धी (स्थाई प्रबलतम) क्रोधादि 4 कषाय, अप्रत्याख्यानी (अस्थाई किन्तु अनियन्त्रणीय) क्रोधादि 4 कषाय, प्रत्याख्यानी (नियन्त्रणीय) क्रोधादि 4 कषाय तथा मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह व सम्यक्त्व मोह(3)।

कषायचतुष्क और चारित्र मोहनीय को शिथिल करके जीव यहाँ पहुँचता है। इसमें जीव पाप कार्यों से सर्व विरति को स्वीकारता है, पुदगल पदार्थो में आसक्ति को तजने के लिए विवेक पूर्वक वर्तता है तथा बाधक कर्मों के क्षय हेतु निरन्तर पुरुषार्थ करता है। फिर भी प्रमाद वश रहता है तथा कषायों के तीव्रोदय से प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान की स्थिति एक करोड़ पूर्व वर्ष मे आठ वर्ष न्यून होती है। 15 कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशम (दर्शनमोहत्रिक, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी व प्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क) करके जीव छठे गुणस्थान में आता है।

छठवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के पालन करने योग्य 28 मूलगुणः

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियविजय, षटआवश्यक क्रियाएं, नग्नता, भूमिशयन, स्नानाभाव, दन्तधोवन अभाव, केशलोंच, खडे होकर कर पात्र में एक बार भोजन।

मुनिराज के पालन योग्य दस व्यवहार-

जैन दर्शन में इन्हें दस लक्षण धर्म(तत्त्वर्थसूत्र अध्याय-9) में कहा भी है यथा- उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रहम्चर्य। निंदा, प्रशंसा, शत्रुता-मित्रता, राग-द्वेष से दूर हैं। मूलाचार गाथा चरित्र पालन की सामग्री इस प्रकार बतलाई गई है-

मिक्खं चर वस रण्णेपोवं, जेमेहिमा बहूजंव।

दुखं सह जिण विरदा, मत्तिं भावेहि सुठठवेरग्गं।।895।।

हे मुनि। सम्यक चारित्र पालना है तो भिक्षा भोजन कर, वन में ही रह, थोड़ा आहार कर, बहुत मत बोल, दुख को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भाव का चिंतवन कर तथा अच्छी तरह वैराग्य परिणाम रख। जो महाव्रती सम्पूर्ण मूलगुणों और शील के भेदों से युक्त होता हुआ भी व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करता है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थान

वाला है। वह सकल संयमी भी कहा जाता है और लब्धि का धारक होता है। इसके आधार पर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के भेद कहे गये है। अहिंसा महाव्रत छः विशेष गुण, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत तथा अपरिग्रह महाव्रत का इनका पालन साधक मुनिराज करते हैं तथा 5 समितियों का आचरण करते हैं-

1-ईर्या समिति- जीवों की रक्षा के लिए सावधानी पूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखते हुए आगे चलना।

2-भाषा समिति- हित-मित ,मधुर और सत्य वचन ही कहना अन्यथा मौन रहना।

3-एषणा समिति- निर्दोष एवं अहिंसक साधनों व द्रव्यों से प्राप्त उदगमादि 46 दोष रहित सभी प्रकार से सर्वथा निर्दोष आहार ग्रहण करना।

4-आदान निक्षेपण समिति- किसी भी वस्तु को सावधानी से उठाना व रखना जिससे सूक्ष्म जीव जन्तुओं का भी घात न हो।

5-प्रतिष्ठापन्न समिति या व्युत्सर्ग समिति- मल मूत्र आदि को ऐसे स्थान पर विसर्जित करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो और सूक्ष्म व स्थूल जीव राशि का घात न हो।

सामायिक, स्तवन अर्थात तीर्थंकरों का गुणानुवाद, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान मुनियों के **षट् आवश्यक** कहे गये हैं। वे पन्चेन्द्रिय निरोध करते हैं सात विशेष गुण- स्नान त्याग. भूमिशयन, केश लोंच, एक भुक्ति – दिन में एक बार भोजन करना आदि को दृढ़ता से जीवन में उतारते हैं

उदुत्थमणे काले णालितिय वज्जिय हिमगज्झहिम।

एक हिम दुअ तिअ वा मुहुत्तकालेण मत्तं तं।। आ.35. 811 930।।

स्थित भोजन- साधुगण पैरों के बल खड़े होकर अपने ही हाथों रूपी पात्र में बिना स्वाद लिए भोजन करते हैं।

अचेलकत्व- दिशा ही है अम्बर जिनके वही अचेलक माना जाता है अतः सर्व परिग्रह का त्याग अचेलकत्व है।

छठवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के आहार सम्बन्धी 46 दोष

उदगम दोष (16), उत्पादन दोष(16), आहार दोष(14), (दाता और पात्र दोष जनित)

उदगम दोषों का स्वरूप या उपभेद-

1- आंदेशिक दोष- संयमी मुनिराज के निमित्त भोजन बनाना

2- अध्याधिदोष- संयमी मुनिराज को देखकर भोजन तैयार करने का आरम्भ करना

3- पूत्तिदोष- प्राशुक भोजन में अप्राशुक द्रव्य मिलाना

4- मिश्र दोष- उपरोक्त दोषयुक्त भोजन पात्र अपात्र को एक साथ कराने का ध्येय

5- स्थापित दोष- अपने घर में जिस बर्तन में भोजन पकाया हो उसे दूसरे घर में अन्य बर्तन में रखना

6- बलि दोष- कुदेवादि निमित्त बना भोजन ।

7- प्रावर्तित दोष- पात्र की नवदा भक्ति (भोजन पूर्व) में शीघ्रता या विलम्ब करना

8- प्राविशकरण दोष- अँधेरा जानकर दीपकादि से उजाला करना

9- क्रीत दोष- भिक्षा हेतु गाय आदि के बदले भोजन लेकर साधु या संयमी को देना

10- प्रामृषिय दोष- दूसरों से उधार सामग्री माँगकर आहार देना

11- परिवर्त दोष- आहार निमित्त दूसरों से अशुद्ध शक्करादि के बदले शुद्ध सामग्र लेना

12- अभिघट दोष- इसके दो भेद हैं- देशविघट व सर्वभिघट

देशविघट- इसके पुनः दो भेद हैं

अचिन्न- पंक्तिबद्ध सीधे तीन या सात घरों से आहार ग्रहण योग्य है

अन्नचिन्न- उपरोक्त से विपरीत जाकर आहार ग्रहण योग्य नहीं है।

सर्वभिघट- इसके पुनः चार भेद हैं जो दिशा प्रमाण संयोजन पर आधारित हैं- (1) स्वग्राम (2) परग्राम (3) स्वदेश (4) परदेश से भोजन लेना ।

13- उदभिन्न दोष- पैकिंग वस्तु को खोलकर साधु को देना।

14- मालारोहण दोष- ऊपर रखी वस्तु की सीडी आदि पर चढ़कर साधु को वस्तु देना।

15- आछेध दोष- पर को भव दिखाकर भोजन देना।

16- अनिसार्थ दोष- दाता असमर्थ होने पर भी दान दे।

(ब) उत्पादन दोषों के स्वरूप-

1- धात्री दोष- ग्रहस्थ को मंडपादि क्रीड़ा का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना।

2- दूत दोष- दाता को परदेश का समाचार कह आहार ग्रहण करना।

3- निमित्त दोष- अष्टागं निमित्त ज्ञान बताकर आहार ग्रहण करना।

4- आर्दनीविक दोष- अपनी जाति कुल व तपश्चरण बताकर आहार ग्रहण करना।

5- वनीवक दोष- दातार के अनुकूल बातें बताकर आहार ग्रहण करना।

6- चिकित्सा दोष- दातार को औषधि बताकर आहार ग्रहण करना।

7- 7से 10 कषाय दोष- कषायचतुष्क पूर्वक आहार ग्रहण करना।

11- पूर्व स्तुती दोष- भोजन से पूर्व दाता की प्रशंसा कर आहार ग्रहण करना।

12- पश्चात स्तुती दोष- भोजन के पश्चात दाता की प्रशंसा करना।

13- विद्‌या दोष- आकाशगामिनी विद्‌यादि बताकर भोजन ग्रहण करना।

14- मंत्र दोष- सर्प विच्छू आदि का मंत्र बताकर भोजन ग्रहण करना।

15- चूर्ण दोष- शरीर शोभादि निमित्त (पुष्टक) चूर्ण बताकर आहार ग्रहण करना।

16- वशीकरण- वशीकरण आदि का उपाय बताकर भोजन ग्रहण करना।

(स) आहार सम्बन्धी दोषों का स्वरूप-

1- शंकित दोष- चार प्रकार के आहार मेरे लेने योग्य हैं या नहीं ऐसी शंका कर आहार लेना

2- मृक्षित दोष- बर्तन पर रखे हुए हाथ वाला भोजन ग्रहण करना।

3- निक्षिप्त दोष- सचित्त पात्र पर रखा हुआ भोजन ग्रहण करना।

4- पिहित दोष- सचित्त पात्रादि पर ढ़का भोजन ग्रहण करना।

5- संव्ययहरण दोष- दान देने की शीघ्रता में अपने वस्त्रादि न संभालना।

6- दायक दोष- मलिन अशुद्ध तन वाली, अशक्त तथा बाल पोषण में रत महिला से आहार ग्रहण करना।

7- उन्मिश्र दोष- सचित्त से मिला आहार लेना।

8- अपरिणत दोष- अधपका आहार लेना।

9- लिप्त दोष- गेरू, खड़िया आदि अप्रासुक द्रव्य से लिप्त वर्तन में रखा आहार लेना।

10- परिव्ययजन दोष- पात्र में आहार को छोड़कर अन्य आहार ग्रहण करना।

11- संयोजन दोष- भोजन में ठंडा-गर्म का मिश्रण युक्त आहार लेना।

12- अप्रमाण दोष- प्रमाण से अधिक भोजन लेना।

13- अंगार दोष- गरिष्ठ या गृद्धिता युक्त भोजन लेना।

14- धुम दोष- प्रपृति विरुद्ध या ग्लानियुक्त भोजन करना।

इसके अलावा मूलाचार के पिण्डशुद्द अधिकार की गाथा 425 - 500 में वर्णित भोजन अन्तरायोंजनित दोष शामिल हैं।

मूलाचार गाथा में वर्णित मल दोष-

णहरोभ जन्तु अटठी कणकुणय पूयि चम्मक हिरमंसाणि।

बीय फलकंद मूलछिण्णाणिमलाचउददसा होंति।।428।।

नख, रोम(बाल) प्राणरहित शरीर हाड़, गेंहूं आदि के कण, चावल के कण, खराब लोही(राघ), चाम, लोही, माँस तथा अंकुर होने योग्य गेंहूं आदि आम्र आदि फल, कंद, मूल ये चौदह मल हैं इन्हें देखकर आहार त्याग कर देना चाहिए।

इस **गुणस्थान का काल** अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यदि आत्मा अन्तर्मुहूर्त उपरान्त भी प्रमाणाधीन रहती है तो वह अपने गुणस्थान से नीचे गिरती है। प्रमाद भाव त्याग की स्थिति में सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त करती है। प्रमाद सहित होने पर आत्मा निरालंबन धर्मध्यान नहीं कर सकती । ध्यान = चित्त की एकाग्रता। जब तक अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती तब तक धर्म ध्यान संभव नहीं। ऐसे व्रती को तब तक निम्न **षट आवश्यक क्रियायें** करते रहना चाहिए। ये षट आवश्क क्रियाएं ग्रहस्थ व साधु दोनों के अशुभ कर्म की निर्जरा में सहायक हैं। **सामायिक**- कम से कम 48 मिनट एक ग्रहस्थ तथा मुनि जीवन पर्यन्त सामायिक में होते हैं। चौबीस तीर्थंकरों की वंदना, सदगुरुओं का वंदन, पंचविधि प्रतिक्रमण- राई प्रतिक्रमण- रात्रि सम्बन्धी अतिचारों की शुद्धि के लिए, देवली- दिवस सम्बन्धी अतिचारों की शुद्धि के लिए, पक्खी- पक्ष के अन्तर्गत लगे अतिचारों की शुद्धि के लिए, चउमासी- चारमास दरम्यान व्रत में लगे अतिचारों की शुद्धि हेतु तथा संवतसरी- वर्ष दरम्यान व्रत में लगे अतिचारों की शुद्धि हेतु आवश्यक माने गये हैं।

7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान-

इस गुणस्थान में वे सजग साधक आते हैं जो देह में रहते हुए भी देहातीत भाव से युक्त होते हैं। इस गुणस्थान में साधक का निवास अतिअल्प होता है अर्थात् कोई भी साधक 48 मिनट से अधिक इस स्थिति से में नहीं रह पाता क्योंकि दैहिक उपाधियां उसे विचलित कर

देती हैं। यदि देहातीत भाव की अवधि इससे अधिक हो जाती है तो वह आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर श्रेणियों में चला जाता है। अप्रमत्तसंयत नामक इस गुणस्थान में प्रमाद के अवसरों की संख्या 37500 कही गई है जो 25 विकथाएं, 25 कषाय, 6 मनसहित पाँच इन्द्रियां, 5 निद्राएं, 2 राग-द्वेष का गुणनफल है।

इस गुणस्थान से ऊपर की श्रेणी में चढ़ने हेतु आत्मा आठवें गुणस्थान में वासनारूपी कर्म शत्रुओं को जीतता है तथा नवमें गुणस्थान में अवशिष्ट वासनारूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है फिर शेष रहता है मात्र सूक्ष्म लोभ। इस पर आध्यात्मिक युद्ध के समय दो प्रकार से प्रहार होता है- पहला है उनका क्षय जिसके चलते वह 11वें गुणस्थान को स्पर्श किए बिना सीधा 12वें गुणस्थान में पहुँच जाता है। जबकि दूसरा तरीका है उससे उपशम व क्षयिक श्रेणीं के द्वारा बचाव करने का जिसमें ।। वें गुणस्थान में पहुँचता है जहाँ पतनोन्मुख होने का विधान है। महव्रतों को धारण करने वाला मुनि संज्वलन नामक चौथे कषाय व नौकषायों के मेद होने और पाँच प्रकार के प्रमाद का अभाव होने पर अप्रमत्तसंयत नामक गुणस्थान को प्राप्त होता है। वह जीव सम्यक्त्व- समकित सह सावधयोग का परिस्याग कर अन्तर्मुख साधना में पूर्ण रूप से लीन हो जाता है।

छठवें गुणस्थान तक द्रव्यलिंगी (बाह्य) पुरुषार्थ का प्रकटीकरण या नैतिक आचरण की अपेक्षा रहती है उसके बाद के गुणस्थान में भावलिंग (आन्तरिक) तप वांछनीय है। अप्रमत्त गुणस्थान के इसके दो भेद हैं

1- **अप्रमत्तविरत-** जो असंख्यात बार छठवें से सातवें और सातवें से छठवें गुणस्थान में आता रहता है उसे अप्रमत्तविरत कहते हैं।

2- **सातिशय अप्रमत्तविरत-** जो जीव श्रेंणी चढ़ने के सम्मुख हो उसे सातिशय अप्रमत्तविरत कहते हैं। यहाँ जीव अन्तर्मुहूर्त के लिए रहता है।

-चौथी संज्वलन कषाय का उदय होने पर महाव्रतधारी मुनि प्रमाद रहित होने पर इस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त करता है। कषाय नाम शेष रह जाते हैं। (विषय, राग, निद्रा, विकथा और कषायवृत्ति का प्रमाण।

- इस गुणस्थान में जीव दर्शन सप्तक की सात प्रकृतियों को छोड़कर मोहनीय कर्म प्रकृतियों का क्षय या उपशम करने हेतु उद्यत बनता है यहाँ उसके साथ होता है व्रत शील युक्त ज्ञान, ध्यानरूप धन और मौनी आत्मा।

- इस गुणस्थान में आत्मा मन, वच काय से पाँच महाव्रतों का पालन, (प्राणातिपात विरमण, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह का सर्वथा त्याग) दस धर्म अंगीकार (उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन एवं व्रहमचर्य), पंचेद्रिय निग्रह, चार संज्ञा(राग) का त्याग- आहार, भय ,परिग्रह और मैथुन का त्याग आदि करता है।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान-

इस अवस्था में पहुँचकर आत्मा कर्मावरण के हल्के हो जाने से विशिष्ट आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करता है। ऐसी स्थिति पूर्व में न हुई हो इसलिए इसे अपूर्व कहा जाता है। विकसित आत्मशक्ति के कारण उसके नवीन कर्मों का बन्ध भी अल्पकारक या अल्प मात्रा में ही होता है। इस अवसर का लाभ उठाकर साधक कर्म वर्गणाओं को ऐसे क्रम में रख देता है कि जिसके फलस्वरूप उनका समय के पूर्व ही भोग किया जा सके। जिस प्रकार बन्धनों में बँधा हुआ व्यक्ति बन्धनो के जीर्ण क्षीण हो जाने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है वही अहसास जीव को अपूर्वकरण की अवस्था में होता है क्योंकि इस स्थिति में मात्र बीजरूप (संज्जवलन) ही माया और लोभ शेष रह जाते हैं। शेष कषायादि भाव या तो क्षीण हो जाते हैं या दमित कर दिए जाते हैं। अपूर्वकरण का शाब्दिक अर्थ है- आत्मपरिणाम अध्यवसाय। जीव स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण तथा स्थितिबंध में पाँच अपूर्व करता है जो उसने पहले न किये हों। इसका अन्य नाम **निवृत्तिकरण** भी है तथा इसे **निवृत्तिबादर** भी कहा जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथमाशं से ही क्षपक श्रेणी या उपशम श्रेणी का आरम्भ हो जाता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में यदि जीव सावधान न रहे तो नीचे गिरता है इसके विपरीत ऊपर की ओर आठवें गुणस्थान में आरोहण करता है। गुणस्थान की उच्च स्थितियों का काल लघु या स्वल्प होता चला जाता है। अष्टम गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। अपूर्वकरण की प्रक्रिया के पाँच चरण हैं-

1. **स्थितिघात 2. रसघात 3. गुणश्रेणी 4. गुणसंक्रमण तथा 5. अपूर्व स्थिति बन्ध।**

इस अवस्था में साधक आत्मविश्वास से इतना भर जाता है कि वह मोक्ष को अपने अधिकार क्षेत्र की वस्तु समझने लगता है। उपशमक का अर्थ है- उदयाभाव में आई हुई कर्म प्रकृतियों का विनाश न करके उन्हें सत्ता में दबाते हुए आगे बढ़ना। क्षपक का अर्थ है- उदयभाव में आई हुई कर्मप्रकृतियों का क्षय करते हुए आगे बढ़ना।

उपशम श्रेणी आत्मा को निर्मल तो करती है किन्तु 11वें गुणस्थान से ऊपर नहीं चढ़ने देती यहाँ आयुष्य पूर्ण कर जीव स्वर्ग में जाता है तथा पतित होने पर मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी आ सकता है और अधोगति का पात्र बनता है। इस गुणस्थान से क्षपक या उपशम श्रेणी का आरम्भ होता है।

क्षपक श्रेणी वाला महात्मा 10वें गुणस्थान से सीधा 12वें गुणस्थान में चढ़ता है और मोक्षगामी बनता है। क्षपकश्रेणी जीव को एक ही बार प्रप्त होती है। उपशम श्रेणी जीव को मात्र 4 बार प्राप्त है एक भव में अधिकतम दो बार। आठवां गुणस्थानवर्ती आत्मा क्षपक कहलाता है यदि कर्म क्षय आरम्भ कर दे। शमन करने की स्थिति में उसे उपशम कहते हैं। जैसे रसायन सेवन से शरीर की पुष्टि होती है उसी प्रकार इन चार भावनाओं के सेवन से धर्मध्यान की पुष्टि होती है-

(अ) **मैत्री-** परहित चिंता मैत्री

(ब) **प्रमोद-** परहित तुष्टिमुर्दिता

(स) **करुणा-** दुखी प्राणी को देखकर ह्रदय काँप जाना दुख दूर करने का यथा संभव प्रयास करना

(द) **माध्यस्थ भावना-** अत्यन्त घोर पापी का भी तिरस्कार न करना

इस गुणस्थान में आत्मा की विशिष्ट शुद्धि हो जाने से छः आवश्यकों का अभाव हो जाता है। **"आया समाइए, आया समाइस्स अटठे"** अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इस प्रकार उत्तम ध्यान के योग से आत्मा की शुद्धि होती है। इस गुणस्थान में आत्मा संकल्प- विकल्प से मुक्त होती है।

9. अनिवृत्तिकरण(बादर सम्पराय) गुणस्थान-

सम्पराय= चारित्र मोहनीय कषाय बादर= स्थूल। मोह के सूक्ष्म स्वरूप की उपस्थिति के चलते इसे बादर सम्पराय गुणस्थान कहा जाता है। बादर(स्थूल) कषायों का क्षय या उपशम इस गुणस्थान का शाब्दिक अर्थ है। इसका काल एक अन्तर्मुहूर्त का है। जब जीव केवल (9 में से 6 कषाय भाव- हास्य, रति, अरति, भय, शोक व घृणा को छोड़कर) बीजरूप(संज्जवलन) लोभ को छोड़कर शेष समस्त काषायिक भाव विनिष्ट कर देता है या उपशमकर लेता है तब उसे यह अवस्था प्राप्त होती है। उपशम की स्थिति में इन परिणामों के पुनः प्रकटीकरण की संभावना को नकारा नहीं जा सकता फिर भी आध्यात्मिक विकास यात्रा के पथिक का मनोबल इतना दृढ़ हो चुका होता है तथा चारित्र पना विशुद्धि की सामान्य दशाओं में पतनोन्मुख होने की संभावना अतिअल्प हो जाती है। सूक्ष्म लोभ से जुड़ी जो 9 कषाय हैं उनमें से उक्त 6 के शेष रहने से ही मुख्य काषायिक परिणामों के उदय की संभावना को व्यक्त किया गया है। भाव निर्जरा- कषायों या इच्छाओं का यम रूप त्याग भाव निर्जरा है।

वृत्ति को मनोवैज्ञानिक आधार माना जा सकता है- **क्योंकि** पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं होता किन्तु पदार्थ के प्रति जो राग है वह दुख का मूल है वही त्याज्य है। जीव में धीरे-धीरे पदार्थों को एक-एक करके छोड़ते जाने से उससे मुक्ति की वृत्ति विकसित होती है । फिर पदार्थ को स्वयं के सुख-दुख का कारण नहीं मानता। मर्यादित आहार भी राग छूटने की प्रवृत्ति का एक भाव है।

व्युच्छित्ति- जिस गुणस्थान में जिन कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय तथा सत्ता की जो स्थिति है वह उसी तक ही रहे अर्थात् आगे के किसी गुणस्थान में उस कर्म प्रकृति का बंध, उदय एवं सत्ता का न होना व्युच्छित्ति है।

इस गुणस्थान में प्राप्त अध्यावसायों की निवृत्ति नहीं होने से इसे अनिवृत्तिकरण बादरसाम्पराय गुणस्थान कहा जाता है। इसमें अप्रत्याख्यानादि बारह बादर कषाय और नौ कषायो का उपशमन या क्षयण आरम्भ होता है।

10. <u>सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान-</u>

इस गुणस्थान में आत्मा के उपरोक्त 6 भावों भी क्षय या उपशम हो जाते हैं और फिर रह जाता है मात्र सूक्ष्म लोभ। दिगम्बर जैन दर्शन के मुताबिक यह कहा जा सकता है कि 28

कर्म प्रकृतियों में से 27 कर्म प्रकृतियों का क्षय करके साधक इस गुणस्थान में पहुँचा है। लोभ का सूक्ष्म अंश होने के कारण ही इसका नाम सम्पराय है। अवचेतनरूप में शरीर के प्रति जो राग रहा हुआ है उसे सूक्ष्म लोभ के संदर्भ में समझा जा सकता है ऐसा मत डॉ. टाटिया रखते हैं। इस गुणस्थान में आत्मा मात्र संज्वलन लोभ के कुछ अंशों को छोड़कर शेष सभी कषायों का उपशमन अथवा क्षयण करती है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सूक्ष्म अंशों का संवेदन (उपशम या क्षय के द्वारा) होता है। क्षय या क्षपक के द्वारा आगे बढ़ने से सीधा 12वां गुणस्थान आरूढ़ होता है जबकि उपशम में 11वां। इस गुणस्थान की स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त काल की होती है।

11. उपशान्त मोह गुणस्थान-

यदि साधक ने बचे हुए सूक्ष्म लोभ को उपशान्त कर दिया है तो वह उपशान्त मोह नामक 11वें गुणस्थान में पहुँचता है लेकिन आध्यात्मिक विकास के पथ पर अग्रसर साधक के लिए यह अवस्था बड़ी ही खतरनाक होती है। यद्यपि नैतिक विकास की यह एक उत्कृष्ट अवस्था है (इसमें सूक्ष्म लोभ का उपशम ही होता है) तथापि निर्वाण के साथ संयोजित न होने के कारण साधक का यहाँ से लौटना अनिवार्य होता है। अर्थात् यह आत्मोत्कर्ष की वह अवस्था है जिसमें पतन निश्चित है। ज्ञात है कि क्षायिक विधि में वासनाओं को नष्ट करके ही आगे बढ़ा जाता है, उपशम में दमन करके आगे बढ़ता है जबकि क्षयोपशम दोनों का सम्मिलित रूप है जिसमें साधक आंशिक रूप से क्षय करता है तथा आंशिक रूप से उपशम या दमन।

सातवें गुणस्थान तक साधक इन तीनों विधियों का उपयोग कर लेता है। आठवें गुणस्थान में तीसरा संयुक्त स्वरूप समाप्त हो जाता है वह केवल क्षय या उपशम में से किसी एक विधि का उपयोग करता है। उपशम या निरोध साधना का सच्चा मार्ग नहीं है क्योंकि यदि दुष्प्रवृत्तियां नष्ट नहीं हुई तो उन्हें कितना ही दबाकर रखा जाय किन्तु उनके प्रकट होने में अधिक समय नहीं लगता। जैसे जैसे दमन बढ़ता है वैसे वैसे उतने ही अधिक वेग से विस्फोटक होने की संभावनाएं बढ़ती हैं। 11वां गुणस्थान वासनाओं के दमन की पराकाष्ठा है। यहाँ उपशम या निरोध के मार्ग का साधक स्वल्पकाल(48 मिनट) तक इस श्रेणी में रहकर वासना व कषायों के पुनः प्रकटीकरण के फलस्वरूप नीचे गिर जाता है। संज्वलन लोभ के उपशम से जीव इस गुणस्थान में पहुँचता है। उपशम श्रेणी का जीव मोह का उपशमन करके 11वें गुणस्थान में आरूढ़. होता है और वीतरागमय आत्म स्वरूप का अनुभव करता है किन्तु मोहनीय कर्म एक अन्तर्मुहूर्त समय पर्यन्त से अधिक उपशान्त नहीं रहता और आत्मा को नीचे के गुणस्थान में उतार देता है। जीव अपने समस्त संसार काल में इस गुणस्थान को चार बार और एक जीवन में अधिकतम दो बार प्राप्त करता है। दसवें गुणस्थान में रहकर जीव ने सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार की कषायों का उपशम कर लिया है इस कारण इन कर्मों की सत्ता 11वें गुणस्थान में तो है किन्तु उदय में नहीं है जब तक ये कर्म उदय में न आ जाए तब तक उसे उद्यमशील रहना पड़ता है। इस गुणस्थान की स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त काल की है। यदि जीवात्मा इस गुणस्थान मे रहते हुए आयुष्य पूर्ण

कर लेता है तो वह सम्यग्दर्शनयुक्त अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है इसके विपरीत आयुष्य शेष होने पर उसी क्रम में (मिथ्यात्व गुणस्थान तक) पतन को प्राप्त होता है जिस क्रम में आरोहढ़ किया था।

आचार्य नेमिचन्द्रजी गोम्मटसार(जीव काण्ड, गाथा-61) में लिखते हैं कि शरद ऋतु में मिट्टी के जम जाने से सरोवर का पानी स्वच्छ दिखता है किन्तु यह निर्मलता स्थाई नहीं होती। मिट्टी के पुनः सम्पर्क में आने पर वह पुनः मलिन हो जाता है ठीक यही स्थिति आत्मा में कर्ममल के उपशम या दमन के चलते प्रकट होती है। इससे प्राप्त आत्मशुद्धि एक नियत समयावधि के पश्चात पुनः मलिन या पतित हो जाती है। जिस प्रकार राख के ढेर में दबी हुई चिंगारी राख के हटने और वायु के संयोग से पुनः प्रज्जवलित हो जाती है ठीक उसी प्रकार 11वें गुणस्थान तक पहुँची आत्मा काषायिक परिणामों के पुनः प्रकटीकरंण के कारण पतित होकर नीचे गिर जाती है। वस्तुतः उपशमन की प्रक्रिया में संस्कार निर्मूल नहीं होते। इसी कारण उनकी परम्परा समय पाकर पुनः प्रवृद्ध हो जाती है। इस गुणस्थान में दो स्थितियाँ हो सकती हैं-

काल क्षय- यदि दसवें गुणस्थान में आत्मा ने उपशम विधि के द्वारा कर्मों का क्षय किया है तो वह इस गुणस्थान को प्राप्त होती है और अन्ततः पतनोन्मुख बनती है।

भव क्षय- इस गुणस्थान में मृत्यु होने पर जीव अनुत्तर विमान में अहिमिन्द्र इन्द्र देव गति को प्राप्त होता है। उसके पश्चात 5 भव में मोक्ष जाता है।

12. <u>क्षीणमोह गुणस्थान-</u>

संज्वलन लोभ का क्षय करके जीव यहाँ आता है। क्षपक श्रेणी के इस गुणस्थान में मोह का अंश मात्र भी अस्तित्व न रहने से जीव को सम्पूर्ण वीतरागत्व का अनुभव होता है। यहाँ पहुँचकर जीव कभी पतन को प्राप्त नहीं होता। मोहनीय कर्म का क्षय, राग-द्वेषादि से रहित होकर जीव यहाँ उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान में लीन हो जाता है। केवलज्ञान रूपी महासाम्राज्य में प्रवेश से जीव इस 12वें गुणस्थान में एक अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त विश्राम लेता है। इस गुणस्थान में जीव सभी कर्म प्रकृतियों का अभाव हो जाने के बाद मात्र एक साता वेदनीय कर्म को बाँधता है।

नोट- अविकास मिथ्यात्व सासादन और मिश्र विकास पथ – चतुर्थ गुणस्थानवर्ती- सम्यक्त्व में श्रद्धालु, पंचम देशव्रती, उत्कृष्ट श्रावक, अणुव्रती, छठवें प्रमत्त संयमवर्ती- दीक्षावर्ती साधक, अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती साधुपने में दृढ़. प्रतिज्ञ होकर महाव्रती की साधना करता है इसीलिए इसे सर्व विरत गुणस्थान भी कहते हैं। आठवां अपूर्वकरण, नवां अनिवृत्तिबादर, दसवां सूक्ष्मसाम्पराय,11वां उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह ये श्रेणीगत गुणस्थान हैं जहाँ क्रोधादि कषायों तथा चरित्रमोह का उपशम य़ा क्षय होता है। उपशम द्वारा 11वें गुणस्थान में पहुँचकर पतन तय है तो क्षय के द्वारा 10वें से सीधे 12वें गुणस्थान में पहुँचकर मोक्ष जाना निश्चित हो जाता है। जो साधक क्षय विधि के द्वारा सूक्ष्म लोभ को भी नष्ट कर देते हैं वे 10वें गुणस्थान से 11वें में न जाकर सीधे 12वें गुणस्थान में पहुँचते हैं जहाँ से पतन नहीं होता।

इस श्रेणी का साधक 28 कर्म प्रकृतियों का क्षय कर चुका होता है इसलिए इस गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहा जाता है। यह नैतिक व चारित्रिक विकास की पूर्ण अवस्था है जहाँ नैतिक-अनैतिकता के मध्य संघर्ष समाप्त हो जाता है। नैतिक पूर्णता की यह अवस्था **यथाख्याति चारित्र** है। मोह कर्म जो कर्मों की सेना का प्रधान सेनापति कहा जाता है, के नष्ट होने के पश्चात थोड़े ही समय में दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय ये तीनों कर्म भी नष्ट होने लगते हैं तथा साधक अनन्त दर्शन अन्नत ज्ञान व अन्नत (वीर्य) चारित्र शक्ति से युक्त होकर विकास की अग्रिम श्रेणी में चला जाता है। विकास का यह प्रतिमान पतन के भय से मुक्त होता है जिससे साधक विशुद्ध आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश पा जाता है।

- समस्त कर्म प्रकृतियों के क्षय की अवस्था। इसके बाद आत्मा का पतन नहीं होता। - इस गुणस्थान में आत्मा कर्म क्षय करके क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। और घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

नोट- 1- यदि पूर्व में आयुष्य बंध नही होता है तो चरम शरीरी आत्मा चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि में एकायुष्य का बंध करती है तथा पाँचवें में त्रियंचायु का, सातवें में देवायुष्य एवं दर्शन मोहनीय की सात कर्म प्रकृतियो का । क्षपक श्रेणी की प्रक्रिया महायोग की साधना है। यदि पूर्व में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त नही किया है तो सातवें गुणस्थान में आत्मा अनंतानुबंधी 4 कषाय एवं दर्शनत्रिक रूप 7 कर्म प्रकृतियों का क्षय करती है। शुक्लध्यान के लिए निष्प्रकंप और दृढ़ वर्यकासन जरूरी है। शाश्वत जिन प्रतिमाएं इसी आसन में होती है।

13. <u>सयोग केवली गुणस्थान-</u>

इस गुणस्थान में साधक साधक नहीं रहता क्योंकि उसके लिए साधना हेतु अब कुछ शेष नहीं रह जाता है। आत्म पुरुषार्थ से वह 4 घातिया कर्मों – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय का तो क्षय कर चुका है और अब उसके 4 अघातिया कर्मों – आयु, नाम, गोत्र व अन्तराय का क्षय देह के परित्याग होने तक शेष रहता है। योग (मन, वचन व काय) के अतिरिक्त बन्ध के 4 कारण मिथ्यात्व, अविरत, कषाय व प्रमाद समाप्त हो चुके होते हैं। योग के चलते बन्ध तो होता है किन्तु कषायादि के अभाव में वह क्षणिक ही रहता है और उसकी निर्जरा भी तुरंत हो जाती है एक औपचारिकता की तरह। योग की उपस्थिति के कारण ही इस गुणस्थान के धारक को सयोग केवली कहा जाता है। इस अवस्था में ध्यान ध्याता व ध्येय के मध्य कोई भेद नहीं रह जाता।

इस गुणस्थान में शरीर सम्बन्ध बने रहने से शारीरिक उपाधियां तो बनी रहती हैं किन्तु आत्मा न्हें समाप्त करने का प्रयास ही नहीं करता। 12वें गुणस्थान में साधक की समस्त इच्छाएं समाप्त हो चुकी होती हैं वह न तो जीने की चाहना करता है और न ही मृत्यु की आकांक्षा। दूसरी बात यह है कि साधना के द्वारा केवल उन्हीं कर्मों का क्षय हो सकता है जो उदय में नहीं आए हैं अर्थात् उनका फल विपाक आरम्भ नहीं हुआ है। जिन कर्मों का फल भोग आरम्भ हो जाता है उन्हें मध्यावस्था में क्षीण नहीं किया जा सकता। वैदान्तिक विचारणा में भी यह तथ्य स्वीकृत है। श्री लोकमान्य तिलक लिखते हैं कि जिन

कर्म फलों का उपभोग आरम्भ होने से यह शरीर एवं जन्म मिला है उसको भोगे बिना छुटकारा नही। जैन दर्शन के अलावा गीता व बौद्ध दर्शन भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

जिस जीव के चार घातिया कर्मों का क्षय होकर लोका-लोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रकट हो जाता(पंचम ज्ञान) है वह सयोगकेवली है। यहाँ के पश्चात जीव का आयुष्य मात्र पाँचह्रस्वाक्षर प्रमाण काल ही शेष रहता है तब तक जीव इस गुणस्थान में रहता है। इस गुणस्थान में जीवात्मा कोई विचार-विमर्श या चिन्तन- मनन नहीं करता (यह कार्य तो छद्मस्थ जीवात्माओं का है केवली भगवन्तों का नहीं) फिर भी पूर्ण मनोयोग का अभाव न होने एवं वचन व काय योग के विद्यमान होने से जीव की ये अवस्था सयोग केवली कही जाती है। इस काल में मानसिक-कायिक एवं वाचिक व्यापार होता है। अनुत्तरवासी देवों के मन द्वारा पूँछे गये प्रश्नों का उत्तर केवली मनोयोग से ही देते हैं-धर्मोपदेश के समय वचनयोग होता है। आहार-निहार-विहारादि से काययोग होता है। दिगम्बर परम्परा में इस विधान का निषेध किया गया है। जिन केवली भगवन्त के वेदनीय कर्म से आयुष्य की स्थिति कम हो तो उसको समान करने के लिए वे 'समुदघात' करते हैं। अन्यथा शुक्लध्यान के तीसरे पाये सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती के ध्यान का आश्रय लेकर सूक्ष्म योग-निरोध करते हैं एवं सूक्ष्म काययोग निरोध भी करता है।

घातियाकर्मों के क्षय का विवरण-

कर्मों के क्षय का प्रारम्भ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय ही हो जाता है। तीर्थंकरकेवली, सामान्यकेवली अथवा श्रुतकेवली के सानिध्य में ही कर्मभूमिज मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है।

1-सर्व प्रथम अन्तःकरण, अपूर्वकरण परिणामों से अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का विसंयोजन द्वारा क्षय हो जाता है।

2- पश्चात यह जीव एक अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त विश्राम लेता है तदनन्तर पुनः अधिकरणादि तीन कषाय परिणामों से मिथ्यात्व कर्म सम्यग्मिथ्यात्व कर्मरूप परिणमित हो जाता है। फिर सम्यक मिथ्यात्व कर्म सम्यक प्रकृति रूप परिणमित हो जाता है। तदनन्तर क्रम से सम्यक प्रकृति का क्षय हो जाता है इस तरह दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व घातक सात प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व का उपर्युक्त अभूतपूर्व कार्य चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसम्यक्त्व गुणस्थान पर्यन्त किसी भी एक गुणस्थान में त्रिकाल सहज शुद्ध निज भगवान आत्मा का आश्रय रूप पुरुषार्थ से ही होता है।

3- नवमें क्षायिक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कर्म प्रकृतियों का परम सुख से अभाव हो जाता है अर्थात् इन घातिरूप पाप प्रकृतियों का क्षयण काल में समय- समय प्रति एक- एक पल का संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ व पुरुषवेद रूप कर्म में संक्रमित होकर दोनों कषाय चौकड़ियों का क्षय हो जाता है।

4-तदनन्तर इस क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही दर्शनावरण कर्म के निद्रा- निद्रा प्रचला- प्रचला स्त्यानगृद्धि इन तीन क्मों का क्षय हो जाता है।

5- पश्चात नवमें गुणस्थान में स्त्रीवेद आदि नपुसंकवेद कर्म का द्रव्य पुरुषवेद कर्म में संक्रमित हो जाता है। तत्पश्चातपुरुषवेद तथा हस्यदि छः (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) इन सात कर्मों का संक्रमण संज्वलन क्रोध कषाय कर्मों में होता है इस तरह नव नौ कषायों का क्षय हो जाता है (शेष बची चारित्र मोहनीय कर्मों में से मात्र संज्वलन क्रोध,मान, माया, लोभ के क्षय का क्रम निम्नानुसार है)

6- नवमे गुणस्थान में ही संज्वलन क्रोध कषाय का संक्रमण संज्वलन मान कषाय में होता है तदनन्तर संज्वलन मान कषाय का संक्रमण संज्वलन माया कषाय में हो जाता है और अन्त में संज्वलन माया कषाय का संक्रमण लोभ कषाय कर्म में हो जाने पर संज्वलन क्रोध,मान और माया एवं तीन कषायों का संक्रमण होकर क्षय हो जाता है। संज्वलन लोभ कषाय का संक्रमण नहीं होता है संक्रमित होने के लिए यहाँ (नवमे गुणस्थान के उपान्त्य समय में) अन्य चारित्र मोहनीय कर्म की सत्ता भी शेष नहीं रही है। चारित्र मोहनीय कर्म का संक्रमण अन्य सात कर्मों से भी नहीं होता है अतः संज्वलन लोभ कषाय कर्म का क्षय स्वमुख से ही होता है। पूर्वोक्त प्रकार क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही चारित्र मोहनीयकर्म की 20 प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

7- दसवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही मात्र संज्वलन लोभ कषाय कर्म सूक्ष्म लोभ रूप से उदय में आ रहा है। बादरलोभ कषाय का सूक्ष्म कृष्टिकरण का कार्य नवमे गुणस्थान में ही सम्पन्न हो गया था दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म लोभ कषाय का भी क्षय हो जाता है।

8- अब बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही मोहकर्म तथा मोहपरिणामों के अभाव से मुनिराज पूर्ण वीतरागी हो गये हैं अब मोहनीय कर्म के बिना मात्र तीन घातिया कर्मों की सत्ता शेष है दर्शनावरणीय नौं कर्मों में से छः कर्म ही शेष हैं, उनमें से निद्रा और प्रचला इन दो कर्मों का बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है।

9- क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरणादि 5 प्रकृतियाँ कुल मिलाकर 14 कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार संसार के सभी जीव अपने- अपने आध्यात्मिक विकास के तारतम्य के कारण गुणस्थान में बँटे हुए हैं इनमें से प्रारम्भ के चार गुणस्थान तो नारकी, देव, मनुष्य और त्रियंच सभी को होते हैं पाँचवा गुणस्थान केवल समझदार पशु पक्षियों और मनुष्यों के होता है पाँचवे से आगे सभी गुणस्थान आत्मध्यान में लीन साधु के ही होते हैं और उनमें से प्रत्येक गुणस्थान का काल एक अन्तर्मुहूर्त से कम होता है।

14. <u>अयोग केवली गुणस्थान-</u>

जब जीव घातिया कर्मों के क्षयोपरान्त शारीरिक उपाधियों की समाप्ति निकट देखता है तो वह शेष कर्मों को समाप्त करने हेतु यदि आवश्यक हो तो प्रथम केवली समुद्-घात करता है और तत्पश्चात सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान के द्वारा मानसिक, वाचिक व कायिक व्यापारों का निरोध कर लेता है तथा समुछिन्ननिरुपाधि क्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान द्वारा निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके शरीर त्याग कर निरुपाधि सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर लेता है।_केवली के शुभ ध्यान होता है। जब पाँच ह्रस्वाक्षर काल प्रमाण आयुष्य शेष रहता है तब केवली योग निरोध प्रक्रिया करके योग रहित होता है। यह योग रहित अवस्था ही अयोगकेवली नामक 14वां गुणस्थान है यहाँ ये आत्मा सिद्धशिला के लोकाग्र में आरूढ़ हो जाती है।यह अष्टधक कर्म अवस्था है।

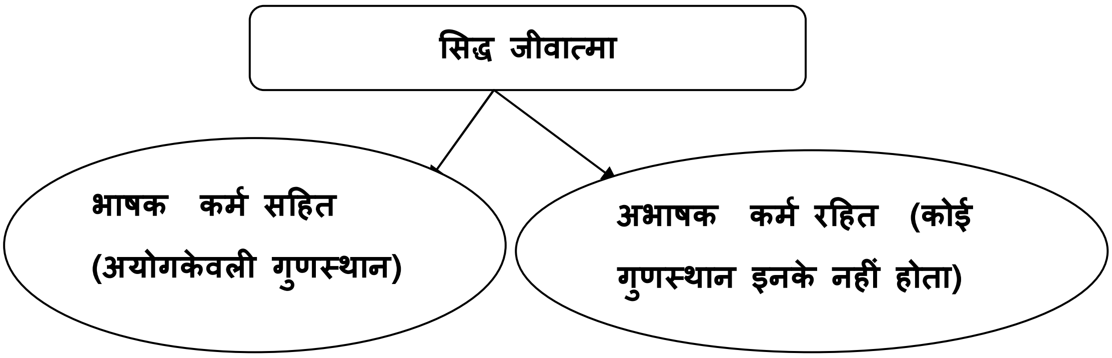

इस गुणस्थान में रहने की कालावधि भी अतिअल्प है जितनी कि पाँच ह्रस्व स्वरों अ, इ, उ,ऋ.लृ के उच्चारण में लगता है। इस अवस्था में जीव के समस्त कायिक योगों का निरोध हो जाता है। यह चरमादर्श उपलब्धि है, यह संन्यास है। इसके बाद की स्थिति को विचारकों ने शिवपद, मोक्ष, निर्वाण एवं निर्गुण व्रह्म कहा है। जिन्होंने(मुनि) ध्याता ध्यान और ध्येय की एकता सिद्ध करदी है उनको लेश भी दुख नहीं होता। आयुष्य शेष रहने पर केवली जीव समुदघात करता है। इसका विवरण इस प्रकार है।

समुदघात- जन्म और मृत्यु जीवन के दो छोर हैं। इसमें सामान्तः जन्म के समय उत्सव तथा मृत्यु के समय शोक एवं दुःख प्रकट करने की परम्परा है किन्तु जैन धर्म ने आध्यात्म के क्षेत्र में मृत्यु को महोत्सव का स्वरूप प्रदान करने की जो प्रक्रिया प्रस्तुत की उस अवधारणा को सल्लेखना ,संन्यास मरण, समाधि मरण, वीर मरण, पंडित मरण, संथारा आदि नामों से अभिहित किया जाता है मृत्यु जीवन की अवश्यंभावी घटना है जिसका कोई अपवाद नहीं है किन्तु जैन धर्म ने जीवन जीनेकी कला जैसा आदर्श प्रस्तुत किया है। कोई भी मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा जीवन और मृत्यु इन दोनों को सार्थक बना सकता है। जैन साधना पद्धति में जो संयममय जीवन जीते हैं, वे इसके पूर्ण अधिकारी बनते है क्योंकि सल्लेखना एक साधारण नहीं, अपितु असाधारण साधना है। साधक अपने जीवन में सर्व प्रथम यह देखता है कि हमारे शरीर और आत्मा इन दोनों में से कौन नश्वर और कौन शाश्वत है , मेरा भला किसमें निहित है ऐसी स्थिति में नश्वर शरीर की अपेक्षा साधक शाश्वत आत्मा

और उसके कल्याण को ही सर्वाधिक महत्व उचित समझाता है। पं. आशाधरजी ने इस संदर्भ में लिखा है-

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः। देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः।।

सर्वार्थसिद्धि आचार्य पूज्यपाद ने संलेखना के महत्व और आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए लिखा - मरण, किसी को इष्ट नहीं है।जैसे अनेक प्रकार के सोने, चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करने वाले किसी को भी अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं हो सकता। यदि कदाचित उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़ आदि) कारण उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता है तो घर में रखे हुए उन सोना- चाँदी आदि बहुमूल्य पदार्थों को, जितना संभव बने, वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं- जीवन में आचरित अनशनादिक विविध तपों का फल अन्त समय गृहीत संलेखना है। अतः अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः शरीर- धारण के उद्येश्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि है। जब वह न हो सके तो इस शरीर को संलेखना के लिए समर्पित कर देना चाहिए। जैन साधना पद्धति के अनुसार कोई साधक असमय में मृत्यु को निमंत्रण नहीं देता, परन्तु जब संयम जीने का अन्य कोई उपाय शेष न रहे तो अपने संयम की रक्षार्थ शरीर का मोह छोड़कर आत्मलीन हो जाता है। यह ऐसा ही है जैसे हम अपनी कोई प्रिय वस्तु फेंकना नहीं चाहते, परन्तु हमारी नौका भारी होकर डूबने लगे तो बहुमूल्य वस्तु को बचाने के लिए हम अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को तत्काल नदी में फेंक देते हैं। संलेखना में भी जीवन की नाव डूबते समय संयम-साधना जैसी दुर्लभ और बहुमूल्य निधि को बचाने के लिए साधक शरीर जैसी तुच्छ वस्तु का मोह त्याग देता है। वह मृत्यु को माता के समान उपकारी मानता है, क्योंकि मृत्यु ही जीव को जीर्णशीर्ण शरीर से छुडाकर नया शरीर प्राप्त कराती है। संलेखना में रत साधक को न तो शीघ्र मरण की कामना करनी चाहिए और न अधिक जीने की आकांक्षा ही। उसे तो अपनी अजर- अमर आत्मा के अनुभव में ऐसा लीन हो जाना चाहिए कि वह जीवन और मरण के विकल्पों से बहुत ऊपर उठ जाय। आचार्य सकलकीर्ति ने भी कहा है-

धीरत्वेन सतां मृत्यु, कातरत्वेन चेद् भवेत्। कातर त्वं बलात्यक्त्वा, धीरत्वे मरणं वरं।।

मृत्यु धीरता से भी प्राप्त होती है और कातरता(दीनता) से भी होती है, तब कातरता को साहस के साथ छोड़कर धीरतापूर्वक मरण करना श्रेष्ठ है। आचार्य समंतभद्र ने ठीक कहा है-

अन्तक्रियाधिकरण तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यं।।

अर्थात् जीवन के अन्त में समाधि का आलम्ब लेकर शरीर का त्याग करना ही जीवन में की गई तपस्या का फल है, जिसे मुनि और गृहस्थ सभी को समान रूप से अपनाना चाहिए और शक्तिभर पूर्ण प्रयत्न कर समाधि मरण करने का अवसर चूकना नहीं चाहिए। समाधिमरण वही प्राप्त कर सकता है, जो प्रारम्भ से ही धर्म की आराधना में सावधान रहा है। कदापि

ऐसा भी संभव है कि किसी ने यावज्जीवन धर्माराधना में चित्त न लगाया हो, किन्तु अन्त काल में अपूर्व विवेक का बल प्राप्त कर समाधि करले किन्तु यह काकतालीय न्यायवत् अत्यन्त कठिन है। जैसे ताड़ वृक्ष से फल टूट कर उड़ते हुए कौए के मुख मे वह फल प्राप्त हो जाना कठिन है, वैसे ही संस्कारहीन जीवन में समाधिमरण पाना दुःसाध्य है। आचार्य समन्तभद्र ने संलेखना धारण की स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः संल्लेखनामार्याः।।

अर्थात् जिसके प्रतिकार(निवारण) का कोई उपाय नहीं हो, ऐसे उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और असाध्य रोग के उपस्थित होने पर जीवन में परिपालित धर्म(श्रद्धा, ज्ञान और आचार) की रक्षा के लिए शरीर का विधिपूर्वक त्याग करना संलेखना या समाधिमरण है। भगवती आराधना के कर्ता आचार्य शिवार्य के शब्दों में -संलेखना के लिए वही तप या उसका वही क्रम अंगीकार करना चाहिए, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और शरीर धातु के अनुकूल हो, क्योंकि सामान्यतः संलेखना का जो क्रम बतलाया गया है वही क्रम रहे - ऐसे एकान्त नियम से साधक को प्रतिबद्धता हो सकती है। अतएव संलेखना धारकों को पाँच निम्नलिखित दोषों से स्वयं को बचाना चाहिए- 1- जीवन की आशंसा, 2- मरण की आशंसा, 3- मित्र के प्रति अनुराग, 4- भुक्तभोगों की स्मृति, 5- आगामी भव में अच्छे भोगों की प्राप्ति की कामना। संलेखना आत्मघात नहीं है।

यदि आयुष्य कर्म की स्थिति वेदनीय आदि कर्मों (वेदनीय, नाम,गोत्र) की अपेक्षा से कम हैं तो उसे तुल्य करने के लिए आत्मा समुद्रघात करती है। इस समुद्घात द्वरा आत्मा दीर्घकाल के बाद भोगने योग्य कर्मों को प्रबल प्रयत्न से उदीरणा करके उदय में लाकर नष्ट कर लेते है। जिन केवली के वेदनीयादि त्रि कर्मों की स्थिति शेष हों वे समुदघात नहीं करते। समुद्रघात के 7 प्रकार हैं-

1. **वेदना समुद्रघात-** भयंकर वेदना के कारण दुखी हुई आत्मा अपने आत्म कर्मों से आवृत अपने आत्म प्रदेशों को शरीर में से बाहर निकलती है और शरीर के मुख आदि खाली भागों को आत्म प्रदेशों से भर देती है। शरीर प्रमाण आत्मा व्यापक बनकर अन्तर्मुहुर्त तक रहती है। इस काल में आत्मा असाता वेदनीय कर्म के बहुत से अंशो का नाश करती है। इसे ही वेदना समुद्रघात कहा जाता है ।
2. **कषाय समुद्रघात –** कषाय से व्याकुल आत्मा शरीर व्यापी बनकर एक अन्तर्मुहुर्त के काल में कषाय मोहनीय कर्म के अनेक अंशों का नाश करती है।
3. **मरणान्तिकं समुद्रघात-** मृत्यु के भय से व्याकुल आत्मा एक अन्तर्मुहुर्त जितना आयुष्य बाकी रहने पर शरीर के पोले भागों में आत्म प्रदेशों को भरकर शरीर की लम्बाई-चौडाई जितना बनता है परन्तु लम्बाई में जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना और उत्कृष्ट से उत्पत्ति स्थान के असंख्य कर्म के बहुत से दलिकों का नाशकर जीव मृत्यु पाता है।

4. **वैक्रिय समुद्रघात-** वैक्रिय शक्तिवाला जीव, अपने शरीर में से आत्म प्रदेशों को बाहर निकालकर अपने शरीर के पोले भाग को आत्म प्रदेशों से भरता है। अन्तर्मुहुर्त तक इस प्रकार रहकर वैक्रिय शरीर नाम कर्म के बहुत से दलिकों का नाश करता है।

5. **तैजस समुद्रघात-** तेजो लेश्या की शक्तिवाला जीव, वैक्रीय समुद्रघात की तरह स्व-शरीर प्रमाण मोटा- चौड़ा बनताहै और दण्डाकृति बनाते हुए अन्तर्मुहुर्त काल में तेजस शरीर नाम कर्म के बहुत से से दलिकों का नाश करता है।

6. **आहारक समुद्रघात-** आहारक लब्धिवाले चौदह पूर्वधर महर्षि आहारक शरीर बनाते है। वे अपने शरीर में से आत्म प्रदेशों को बाहर निकालकर शरीर प्रमाण मोटा- चौडा करते है और अन्तर्मुहुर्त काल में बहुत से आहारक शरीर नाम कर्म दलिकों का नाश करते हैं।

7. **केवली समुद्रघात-** वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति आयुष्य कर्म से अधिक हो तब केवली भगवंत उस स्थिति को समान करने के लिए अपने आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालने के लिए अपने आत्म प्रदेशो को शरीर से बाहर निकालकर , चौदह राज लोक में व्यापकर उन कर्मों की स्थिति का जो ह्रास करते हैं वह केवली समुद्रघात है।

समुदघात के समयः यह समुद्घात 8 समय में पूरा किया जाता है । पहले 4 समय में व्याप कराने एवं अंतिम 4 समय में खिंचाव किया जाता है-

1.**पहला समय** – सर्व प्रथम आत्मा आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर अपने शरीर की मोटाई के अनुसार दंडाकार रूप में चौदह राज लोक में व्याप्त हो जाती है।

2. **दूसरा समय-** दूसरे समय में आत्मा प्रदेशों को पूर्व – पश्चिम कपाट की रचना में ढाला जाता है।

3.**तीसरा समय-** इस समय में शेष रही दो दिशाओं में आत्म प्रदेशों को लोक पर्यन्त फैला दिया जाता है ।

4. **चौथा समय-** चौथे समय में लोक का जो भाग बाकी रह गया है वहाँ आत्मा प्रदेशों को फैला दिया जाता है। इस प्रकार आत्मा चौदह राज लोक व्यापी बन जाती है।

अब विपरीत क्रिया होती है……

5. **पाँचवा समय-** चौथे समय में अवशेष भागों को जिन आत्म प्रदेशों से भरा था वहाँ से आत्म प्रदेशों को आत्मा से खींच लिया जाता है।

6. **छट्ठा समय –** इसमें दो दिशाओं के आत्म प्रदेशों को पुन: खींच लिया जाता है और आत्म प्रदेश कपाटाकार रह जाते हैं।

7. **सातवाँ समय-** इसमें कपाटाकार आत्म प्रदेशों का भी संहरण कर दिया जाता है और प्रदेश दण्डाकार शेष रह जाता है।

8. **आठवाँ समय –** इस समय में दण्डाकार आत्मा प्रदेशों का भी संहरण कर दिया जाता है और आत्मा अपने शरीर व्यापी बन जाती हैं।

नोट –(1. छ: मास से अधिक आयुष्य वाली आत्मा यदि केवज्ञान प्राप्त करती है तो निश्चय से समुद्रघात करती है। शेष केवली विकल्प से(करते भी हैं/नहीं करते) समुद्रघात करते हैं।

2.समुद्रघात की क्रिया के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति को आयुष्य की स्थिति के अनुरुप कर लेने के बाद क्षपक आत्मा **तीन योग** वाली बन जाती है। इसके त्याग हेतु आत्मा 13वें गुणस्थान के अंत में योग निरोध की क्रिया हेतु (सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति ध्यान) तृतीय शुक्लध्यान का ध्यान करती हैं।)

गुणस्थान में मरण-

गुणस्थान	**गति में उत्पन्न**
प्रथम	**चारों गतियों में(** देव गति में नवग्रेवेयक तक)
द्वितीय	तीन गतियों में, नियम से नरक नहीं जाता।
तृतीय	इसमें मरण नहीं होता।
चतुर्थ	पूर्व में मिथ्यात्व परिणामों से जिस आयु का बंध किया हो बाद में सम्यक्त्व प्राप्त करने पर भी उसी में जाता है। परन्तु नरक गति प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता। त्रियंच गति में भोग भूमि का त्रियक बनता है, कर्म भूमि का नही, देव गति में स्वर्ग ही जाता है यदि किसी आयु का बंध नहीं हुआ है तो देव गति में ही जाता है।
पाँचवें से ग्यारहवें तक	इन गुणस्थानों में जीव मरकर देव गति में ही उत्पन्न होता है। अन्य गति में नहीं और देव गति में भी कल्पवासी देव बनता है।
अयोगकेवली गुणस्थान	इस गुणस्थान में जीव सिद्ध गति मरण कर (सिद्धशिला) को पा जाता है।

<u>गुणस्थान में उतरने व चढ़ने के मार्ग-</u>

1-पहले गुणस्थान से ऊपर के गमन के चार मार्ग हैं। जीव पहले से तीसरे, चौथे, पाँचवें तथा सातवें गुणस्थान में जा सकता है।

2- दूसरे गुणस्थान से नीचे की ओर गमन का एक ही मार्ग है (दूसरे से पहले में आना) दूसरे से ऊपर की ओर गमन का कोई मार्ग है।

3- तीसरे गुणस्थान में नीचे व ऊपर की ओर गमन का एक ही मार्ग है।

4- चौथे गुणस्थान से नीचे के गमन के तीन मार्ग हैं (चौथे से तीसरे, दूसरे वपहले गुणस्थान में) और ऊपर गमन के दो मार्ग (चौथे से पाँचवें तथा सातवें गुणस्थान) हैं।

5- पाँचवें से नीचे के तीन मार्ग हैं(पाँचवें से चौथे, तीसरे, दूसरे एवं पहले गुणस्थान में) है और ऊपर गमन का केवल एक मार्ग है। (पाँचवें से सातवें में)

6- छठे से नीचे की ओर पाँच मार्ग और ऊपर की ओर छठे से सातवें में एक ही मार्ग है।

7- सातवें गुणस्थान (उपशम श्रेंणी के सम्मुक) से नीचे की ओर दो मार्ग हैं।(सातवें से छठे में और मरण की अपेक्षा चौथे में) और ऊपर की ओर गमन का एक ही मार्ग है सातवें से आठवें में)

8- आठवें गुणस्थान (उपशम श्रेंणी वाले) से नीचे की ओर दो मार्ग (आठवें से सातवें में तथा मरण की अपेक्षा चौथे में) और ऊपर की ओर गमन करने का एक ही मार्ग है (सातवें से आठवें में)

9- नवमे गुणस्थान (उपशम श्रेंणी वाले) से नीचे की ओर गमन करने के दो मार्ग (नवमे से आठवें तथा मरण की अपेक्षा चौथे में) तथा ऊपर की ओर दसवें गुणस्थान में एक ही मार्ग है।

10- दसवें गुणस्थान (उपशम श्रेंणी वाले) से नीचे की ओर गमन करने के दो मार्ग (दसवें से नवमे में तथा मरण की अपेक्षा चौथे में) और ऊपर की ओर दो मार्ग (दसवें से ग्यारहवे में)

11- ग्यारहवे गुणस्थान से नीचे गमन के दो मार्ग (दसवे में तथा मरण की अपेक्षा चौथे में) तथा ऊपर की ओर कोई मार्ग नहीं है।

12- सातवें गुणस्थान(क्षपक श्रेंणी वाले) से ऊपर गमन का मार्ग क्रम से आठवें, दसवे, बारहवें, तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान (सिद्ध) है। नीचे का मार्ग नहीं हैं।

जीव का उद्येश्य मोक्ष प्रप्ति है वह क्रमशः कर्मों की निर्जरा करता हुआ उच्च से उच्चतर गति पाता हुआ अन्त में उच्चतम मोक्ष स्थिति को प्राप्त होता है जहाँ से फिर उसे भटकना नहीं पड़ता। सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात जीव नीच गति , प्रथम नरक के सिवाय बाकी के छः नरकों, हीनाधिक देव(भवनवासी, व्यन्तर एवं ज्योतिषी) नारी, नपुंसक, स्थावर से लेकर चतुरिन्द्रिय तक पशु पर्याय तक धारण नहीं करनी पड़ती।

गुणस्थानों में श्रेणी चढ़ने की पात्रता सम्बन्धी विधान-

1. यदि चरमशरीरी आत्मा उपशम से 11वें गुणस्थान में चढ़ती है तो पतनोन्मुख होने पर क्रमशः 10, 9, 8 और फिर 7वें गुणस्थान पर आकर रुकती है और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर क्षपक श्रेंणी चढ़ सकती है।
2. यदि आत्मा चरम शरीरी नहीं है तो नियत क्रम से नीचे आते-आते यदि छठे गुणस्थान में रुक जाय तो पुनः दूसरी बार भी उसी भव में उपशम श्रेंणी चढ़ सकती है ।(एक भव में दो बार उपशम श्रेणी चढ़ना कर्मग्रंथिक मत है, सैद्धान्तिक नही)
3. यदि पतनोन्मुख आत्मा छठे गुणस्थान में नहीं रुके तो वह पाँचवे और चौथे गुणस्थान में आ सकती है और यदि अनन्तानुबंधी कषाय उदय में आ जाय तो वह सास्वादन को प्राप्त कर पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान में आ सकती है।
4. उपशम श्रेंणी संसार चक्र में उत्कृष्टता से 4 बार तथा एक जीव को एक भव में दो बार प्राप्त हो सकती है।

5. क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितियोपशम सम्यग्दृष्टि जीव पात्र है। जबकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला तथा क्षायोपशम सम्यकत्वी पात्र नहीं है।
6. श्रेणी- चारित्र मोहनीय कर्म की शेष 21 कर्म प्रकृतियों का क्षय / उपशम इस दृष्टि से दो भेद हैं-

   क्षय /क्षायिक श्रेणी = जो क्षय के चलते मिलती है **उपशम श्रेणी** = जो उपशम के चलते मिलती है।

   उपशम श्रेणी के गुणस्थान - आठवां, नवमां, दसवां और ग्यारहवां गुणस्थान (4) तथा **क्षपक श्रेणी** के आठवां, नवमां, दसवा और बारहवां (4) गुणस्थान हैं।
7. आठवें गुणस्थानवर्ती जीव के भावी पर्याय में वर्तमान पर्याय का आरोप कर लेने से क्षपक और उपशम की सिद्धि व्यवहार से हो जाती है इसलिए इस गुणस्थान में कर्मों का क्षय व उपशम न होने पर भी इस गुणस्थानवर्ती को क्षपक या उपशमक कहा जाता है।
8. नवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का काल मात्र अन्तर्मुहूर्त का है यहाँ जीवों में एक समान, विशुद्ध निर्मल परिणाम (ध्यान रूप अग्नि की शिखाओं से कर्म वन को भस्म करना) होते हैं। धवल ग्रंथ- पृष्ठ- 187 ।।
9. सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में पाँचों भावों में से यथार्थ भाव है- औदायिक भाव- गति, लेश्या, असिद्धत्व अर्थात् प्रदेशत्व गुण, क्रिया गुण, योग गुण, अव्याबाध गुण, अवगाहन गुण,अगुरुलघू गुण और सूक्ष्मत्व गुण। ये सम्पूर्ण रूप से विकारी भावों का परिणमन करते हैं।
10. उपशम व क्षायिक भाव से अनेक जीवों के श्रद्धा गुण का परिणमन होता है
11. क्षयोपशम भाव के परिणमन से ज्ञानगुण, दर्शन गुण, वीर्य गुण तथा चारित्र गुण होते हैं।
12. पारिणामिक भावों के चलते जीवत्व व भव्यत्व का परिणमन होता है
13. सयोगकेवली नामक 13वें गुणस्थान में जीव केवलज्ञान से युत हो जाता है वहाँ उसकी वाणी खिरती है जिसे भषा विशेष न कहकर ध्वनि कहा जाता है। **दस अष्ट महा भाषा समेत, लघु भाषा सात शतक सुचेत।**
14. केवली भगवन्त जीव को(पुण्यापुण्य का अभाव होने से) भाव उदीरणा नहीं होती क्योंकि परिषहों को जीतना भी राग का परिणाम है। इस गुणस्थानवर्ती के रागादि समस्त भावों का अभाव होता है।
15. केवली जीव कवलाहार (किसी भी प्रकार की आहार) नहीं करता।

16. चौदहवां औदायिक मिश्रकाय योग अपर्याप्तिकों (सिद्ध) के होता है इसलिए समुदघात केवली अपर्याप्तक कहे जाते हैं।

गुणस्थान सम्बंधी अन्य महत्वपूर्ण विधान-

1. संज्वलन लोभ का पुनः उदय होने से जीव 11वें गुणस्थान से वापस नीचे गिरता है।
2. केवलज्ञान प्रकट होने के पश्चात जीवात्मा और शरीर का सम्बन्ध जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक तथा अत्कृष्ट नव वर्ष कम एक कोड़ वर्ष पूर्व तक रह सकता है।
3. कषायवंत जीवात्मा प्रथम से दसवें गुणस्थान तक विद्यमान रह सकते हैं।
4. चारित्रवंत आत्मा अंतिम नौ गुणस्थान तक (छठे से 14वें तक) होते हैं।
5. सूक्ष्म जीवात्माओं में मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है
6. अव्रती- 4 गुणस्थान तक होते हैं।
7. मोहनीय कर्म की उदीरणा दसवें गुणस्थान तक होती है।
8. अपर्याप्त जीवात्मा के तीन- मिथ्यात्व, सास्वादन और सम्यक्त्व गुणस्थान होते हैं।
9. सकषायी जीवात्मा में दस गुणस्थानक तथा अकषायी आत्मा में अंतिम चार गुणस्थानक होते हैं।
10. सात उपयोग में छठवें गुणस्थान से लेकर 12वें गुणस्थान तक समावेश होता है।
11. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में तेजो,पद,म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएं पायी जाती हैं।
12. कृष्णलेश्या में पहले के 6 गुणस्थानक होते हैं।
13. सबसे अधिक गुणस्थानक शुक्ल लेश्या में प्राप्त होते हैं।
14. क्षायिक सम्यक्त्व में चार से चौदह तक कुल 11गुणस्थान होते हैं।
15. मात्र मनुष्य गति में पूरे 14 गुणस्थानक उपलब्ध हो सकते हैं।
16. सिद्धात्माएं गुणस्थानक रहित होती हैं
17. एक चरित्र में पाँच गुणस्थानक होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानक में एक सूक्ष्मसाम्पराय चरित्र तथा 11वें उपशान्त मोह से लेकर 14वें तक यथाख्यातिचारित्र पाया जाता है।
18. इन तीन गुणस्थानकों में अंतर नहीं पड़ता। 12वें- 13वें- 14वें ।
19. **स**बसे कम जीवात्मा 11वें गुणस्थान में सबसे अधिक मिथ्यात्व गुणस्थान में होते है।
20. 5 मार्गणा चौथे गुणस्थान में होती हैं गिरे तो दूसरे तीसरे में और चढे. तो 5वें 7वें में।
21. सम्यक मिथ्यात्व(मिश्र) क्षीणकषाय, सयोगकेवली गुणस्थानों में मरण नहीं होता है।

<u>गुणस्थानों का काल-</u>

1- प्रथम गुणस्थान का काल- जघन्य काल- अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट- अनादि अनन्त(अभव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त, भव्य की अपेक्षा अनादिसन्त किसी विशेष जीव की अपेक्षा सादि सन्त)।

2- द्वितीय गुणस्थान का काल- जघन्यकाल- एक समय, उत्कृष्ट काल- छह आवली (दो समय से छह आवली पर्यन्त मध्य के सभी विकल्प)।

3- तृतीय गुणस्थान का काल- जघन्य काल, जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट काल- उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त।

4- चतुर्थ गुणस्थान का काल- उत्कृष्ट काल तेतीस सागर, जघन्य काल- अन्तर्मुहूर्त। औपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य काल- मध्यम अन्तर्मुहूर्त। क्षयोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा- उत्कृष्ट काल- 66 सागर जघन्य काल- अन्तर्मुहूर्त। क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा- उत्कृष्ट काल- सादि अनन्त काल। संसारी जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट काल- आठ वर्ष एक अन्तर्मुहूर्त कम दो कोटि पूर्व सहित 33 सागर।

5- पंचम गुणस्थान काल- जघन्य काल- अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट काल मनुष्य की अपेक्षा- आठ वर्ष एक अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष।

6- सातवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक (मरण की अपेक्षा) उत्कृष्ट काल- अन्तर्मुहूर्त- जघन्य काल- एक समय।

7- बारहवां गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है।

8- तेरहवें गुणस्थान का काल- उत्कृष्ट- आठवर्ष- आठ अन्तर्मुहूर्त कम पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण जघन्य काल- अन्तर्मुहूर्त।

9- चौदहवें गुणस्थान का काल उत्कृष्ट एवं जघन्य काल- अन्तर्मुहूर्त।

<u>गुणस्थानों के संदर्भ में कषायों की काल मर्यादा-</u>

1. अनन्तानुबंधी कषाय- अधिकतम जीवन पर्यन्त रहती है तथा अनन्त संसार का अनुबंध करती है।
2. अप्रत्याख्यानीय कषाय- अधिकतम 12 मास तक सतत चलता है।
3. प्रत्याख्यानीय कषाय- का उदय अधिकतम 4 मास तक सतत रहता है।
4. संज्वलन कषाय- अदिकतम 15 दिनों तक रहता है।
5. स्व- स्वभाव को त्याग कर विभावदशा को प्राप्त करना प्रमाद है । ये प्रमाद 5 प्रकार के हैं- मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और चिंतन।
6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान में नौ कषाय का उदय होने से आर्तध्यान की मुख्यता रहती है। ये नौ कषाय ही प्रमाद का मुख्य कारण हैं।

गुणस्थानो में शुद्ध परिणति की स्थिति-

1. राग- द्वेष परिणामों से रहित जीव के चरित्र गुण का वीतराग भाव रूप परिणमन के वीतराग परिणाम को शुद्ध परिणति कहते हैं।
2. कषाय के अनुदय से व्यक्त अर्थात् विरक्त वीतराग अवस्था को शुद्ध परिणति कहते हैं।
3. जब तक साधक आत्मा की वीतरागता पूर्ण नहीं होती तब तक साधक आत्मा में शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के साथ कषाय के अनुदय पूर्वक जो शुद्धता सदैव बनी रहती है उसे शुद्ध परिणति कहते हैं। जैसे- चौथे और पाँचवे गुणस्थान में जब साधक बुद्धि पूर्वक शुभोपयोग या अशुभोपयोग में संलग्न रहते हैं तब इस शुद्ध

परिणति के कारण ही वे जीव धार्मिक बने रहते हैं। छठवे गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी मुनिराज के भी शुद्ध परिणति नियम से रहती है इस शुद्ध परिणति के कारण ही यथायोग्य कर्मों का संवर और पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा भी निरन्तर बनी रहती है।

4. चौथे- अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय चौकडी के अनुदय रूप अभाव पूर्वक व्यक्त वीतरागता से जघन्य शुद्ध परिणति सतत बनी रहती है इसी कारण युद्धादि अशुभोपयोग में संलग्न श्रावक को भी यथायोग्य संवर निर्जरा होती है।
5. पाँचवे देशविरत गुणस्थान में अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इन दो कषाय चौकडी के अनुदय रूप अभाव व्यक्त विशेष वीतरागता के कारण मध्यम सुद्ध परिणति सतत बनी रहती है इसलिए दुकान- मकानादि अथवा घर के सदस्यों की व्यवस्था रूप अशुभोपयोग के समय विताते हुए व्रती श्रावक को भी यथायोग्य संवर- निर्जरा होते हैं।
6. छठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान में अनंतानुबंधी आदि तीन कषाय चौकडी के अनुदय रूप अभाव से व्यक्त वीतरागता के कारण उत्पन्न शुद्ध परिणति शुभोपयोग के साथ सदा बनी रहती है इसी कारण अप्रमत्तविरत मुनिराज के समान ही प्रमत्तविरत मुनिराज भी भावलिंगी संत नही हैं।
7. सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर नवमे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पर्यन्त के सभी भावलिंगी मुनिराजों को तीन कषाय चौकडी (यथासंभव संज्वलन कषाय एवं नौकषाय) के अनुदय एवं अभाव से व्यक्त वीतरागता रूप शुद्धोपयोग सदा बना रहता है जब तक साधक को शुभ या अशुभ रूप उपयोग रहता है तब व्यक्त शुद्धता लब्धरूप रहती है उसे ही शुद्ध परिणति कहते हैं। जब उपयोग निज शुद्धात्मा में लीन हो जाता है तब वही व्यक्त शुद्धता वीतरागता वृद्धिगत हो जाती है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं। व्यापार रूप शुद्धता शुद्धोपयोग कहलाता है और लब्ध रूप शुद्धता शुद्धपरिणति कहलाती है।
8. दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में तीन कषाय चौकडी और संज्वलन, क्रोध, मान, माया कषायों एवं नौ कषायों के उपशम या क्षय रूप अभाव से उत्पन्न वीतरागता संज्वलन सूक्ष्म लोभ कषाय कर्म के उदय काल में एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त शुद्धोपयोग रूप रहती है।
9. ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान को छोड़कर आगे के क्षीण मोह आदि तीन गुणस्थानों में एवं सिद्ध अवस्था में भी वीतरागता की पूर्णता हो पायी है अतः इन स्थानों में भी उपयोग एवं परिणति ऐसा भेद नहीं रहता (मुनि भूमिका की शुद्धपरिणति विषयक स्पष्टीकरण होता है।)

गुणस्थानों में ध्यान की मन्दता व तीव्रता

ध्यान - अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थान की अवस्थाओं में ध्यान की स्थिति निम्नवत् रहती है-

आर्तध्यान का सदभाव = तीनों अवस्थाओ में रहता है।

रौद्र ध्यान = अविरत व देशविरत अवस्था में होता है।

धर्म ध्यान = अप्रमत्त संयत को उपशान्त कषाय व क्षीण कषाय की अवस्था में होता है।

शुक्ल ध्यान = उपशान्तं कषाय (उपशान्त मोह), क्षीण कषाय (क्षीण मोह) की स्थितियों में होता है।

आर्त रौद्र भवेदत्र, मन्दं धर्म्यं तु मध्यमम्। षट कर्म प्रतिमा श्राद्ध-व्रत पालम संभवम्।।

आर्त-रौद्र ध्यान की मन्दता, श्रावक के षटकर्म, ग्यारह प्रतिमा और बारह व्रत इन व्रतों का पालन करने वाला व्रती मध्यम श्रावक कहलाता है।

(अ) **आर्तध्यान-** स्व पीडा जन्य ध्यान आर्तध्यान है। ये चार प्रकार का है.

- **अनिष्ट संयोग**- इससे सतत आकुल व्याकुल रहना
- **इष्ट वियोग**- इसके चलते दुःख विलाप आदि करना
- **वेदना**- असातावेदनीय जनित शारीरिक रोग की सतत चिन्ता
- **निदान**- पौदगलिक सुख की लालसा से निदान कर लेना। यथा- पूजादि से मुझे अमुक ऋद्धि प्राप्त हो ऐसी कामना युक्त ध्यान करना।

(ब) **रौद्र ध्यान-** आत्मा के अत्यन्त क्रूर और किलिष्ट परिणाम होना रौद्र ध्यान का लक्षण कहा गया है। इसके भी चार भेद हैं-

- **हिंसानुबंधी**- यथा- वह मर जाय तो मैं चैन से बैठूँ ऐसा सतत क्रूर चिन्तन
- **मृषानुबंधी**- किसी को ठगने या नाश हेतु भयंकर झूठ बोलना
- **स्तेयानुबंधी**- चोरी के अनेकानेक प्रयासों का सतत चिन्तन
- **संरक्षणानुबंधी**- परिग्रह की सुरक्षा- संरक्षण सम्बन्धी सतत चिंता

नोट- देशव्रती के आर्त और रौद्र दौनों ध्यान हो सकते हैं किन्तु साथ ही धर्म ध्यान की उपस्थिति अमुक/आंशिक प्रमाण में रहती है।

(स) **धर्म ध्यान-** धर्म के विषय में शुभ चिंतन ही धर्म ध्यान कहलाता है। इसके भी चार भेद हैं-

- **आज्ञा विचय**- वीतराग परमात्मा की क्या आज्ञा है? इसका विचार।
- **अपाय विचय**- किस कर्म का क्या फल/दुर्गति है? का विचार करना।
- **विपाक विचय**- सुख दुःख स्वकृत कर्म का फल है दुसरे तो निमित्त मात्र हैं ऐसा सतत चिंतन करना
- **संस्थान विचय**- चौदह राज लोक का क्या स्वरूप है- लोक स्वरूप का चितंन करना

(द) **शुभ ध्यान-** सामन्यतया शुभ ध्यान दो प्रकार के होते हैं-

(अ) व्यवहारनय आश्रित-

आत्मा या निरालंबन ध्यान को छोड़कर स्थान, वर्ण, अर्थ आलम्बन के योग का आश्रय करके जो ध्यान किया जाता है वह व्यवहारनय आश्रित है। इसके उपभेद इस प्रकार किए गये हैं-

-स्थान योग- अर्थात् योग्य मुद्रा स्वीकार्य। ध्यान की एकाग्रता के लिए योग्य आसन अनिवार्य है(वीरासन, पद्मासन व पर्यंकासन)। छद्मस्थ दशा में प्रत्येक शुभ अनुष्ठान ध्यान स्वरूप है। इस अनुष्ठान में योग्य मुद्रा का पालन स्थान योग है।

-वर्ण योग- सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना भी एक ध्यान है।

-अर्थ योग- सूत्र उच्चारण के समय उसके अर्थ में उपयोग रखना अर्थ उपयोग है।

-आलंबन योग- जिन बिम्ब आदि शुभ पदार्थों में मन को स्थिर रखना आलम्बन योग है।

(आ) निश्चयनय आश्रित-

आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान वास्तविक ध्यान है। आत्मा ही ज्ञान दर्शन और चारित्र स्वरूप है ऐसा श्रद्धायुक्त ध्यान सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र की प्राप्ति में सहायक है तथा कर्म मुक्ति का बंधन है। इस प्रकार निश्चयनय से ही आत्मा का कर्ता है, ध्यान का कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी। आत्म ध्यान से ही कर्मों की निर्जरा संभव है बाह्य आचार पालन से नहीं. ऐसी दृढ़ मान्यता पर चलकर आत्मा परमात्मा स्वरूप बनती है। पं. दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं कि **जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को न विकल्प बच भेदन जहाँ, चिद भाव कर्म चिदेस कर्ता चेतना क्रिया तहाँ।।**

ज्ञानसार में पू. उपाध्यायजी ने कहा है-

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्कैकतां गतम्।
मुनेरनन्य- चित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते।।

<u>ध्यान में गुणस्थान-</u>

-एक ध्यान में अंतिम आठ गुणस्थान होते हैं

-दो ध्यान में कुल चार गुणस्थान होते हैं प्रथम के तीन और छठा।

- तीन ध्यान में कुल दो गुणस्थान होते हैं –चौथ- पाँचवा

- आर्तध्यान में प्रथम 6गुणस्थानक होते हैं तथा रौद्र ध्यान में प्रथम के पाँच।

- शुक्लध्यान अपूर्वकरण गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

पृथकत्व वितर्क सविचार'- आद्य शुक्लध्यान है। पृथकत्व =अनेकता वितर्क=श्रुत की चिंता, विचार= एक चिंतन से दूसरे चिंतन पर गमन करना। क्षपक श्रेणीं पर आरूढ़ दसवें गुणस्थान को पार कर 12वें गुणस्थान को प्राप्त करने वाली वीतराग, महायती और क्षीणमोही बनी आत्मा पूर्व की तरह भाव युक्त होकर दूसरे शुक्लध्यान का आश्रय लेती है।

गुणस्थान सिद्धान्त पर समीक्षात्मक विचार

पहले से सातवें गुणस्थान तक नियति की प्रधानता प्रतीत होती है जबकि आठवें से चौदह गुणस्थान तक की सिद्धि पुरुषार्थ प्रधान्य है। प्रथम सात गुणस्थान श्रेणियों में आध्यात्मिक विकास में संयोग की प्रधानता रहती है क्योंकि इसमें आत्माम का स्वयं का प्रयास अतिअल्प होता है। अपूर्वकरण की प्रक्रिया के द्वारा आत्माम अंतिम सात गुणस्थानों में कर्मों पर शासन करने लगती है जो वास्तव में आत्म का अनात्म पर अधिकार है। **दृष्टान्त से स्पष्टता**- कल्पना करें कि किसी उपनिवेश को विदेशी जाति ने गुलाम बना लिया है। तो यह प्रथम गुणस्थान की भाँति है. पराधीनता में ही शासक-वर्ग द्वारा प्रदत्त सुविधा का लाभ उटाकर जनता में स्वतंत्रता की चेतना का उदय होना चतुर्थ गुणस्थान है। बाद में जनता द्वारा कुछ अधिकारों की माँग का प्रस्तुत किया जाना और प्रयासों तथा परिस्थिति के आधार पर कुछ माँगों की स्वीकृति पाँचवां गुणस्थान है। इसकी सफलता से प्रेरित जनता औपनिवेशक स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयास करती है और अवुकूल संयोग होने पर यह माँग स्वीकृत भी हो जाती है यह छठा गुणस्थान है। औपनिवेशक स्वराज्य की इस अवस्था में जनता पूर्ण स्वराज्य का प्रयास करती है, सजग होकर अपनी शक्ति संचय करती है यह सातवां गुणस्थान है। आगे वह पूर्ण स्वतंत्रता का उद्घोष करती हुई उन सब विदेशियों से संघर्ष आरम्भ कर देती है। संघर्ष की आरम्भिक स्थिति में यद्यपि शक्ति सीमित और शत्रु विकरील होता है फिर भी अपने साहस और शौर्य से वह उसे परास्त कर देती है यह आठवां गुणस्थान है। नवां गुणस्थान वैसा ही है जैसा युद्ध के बाद आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना और छिपे हुए शत्रुओं का उन्मूलन करना। इसके बाद की अवस्थाओं में यदि अति अल्पक्षतिकारक घटकों को समाप्त कर घातिया शत्रुओं का विनाश कर दिया जाय या उन्हें शमित कर दिया जाय तो 10 से 12वें गुणस्थान तक की अवस्था स्पष्ट हो जाती है। तत्पश्चात रखी जाती है स्व विकास की सुदृढ़ बुनियाद जो 13वां गुणस्थान है एवं केवल या परमानन्द का द्योतक है। अब बस अघातिया कर्मों के कालातीत होते ही इस बुनियाद पर मोक्ष महलरूपी भव्य-बुलन्द इमारत खड़ी होने वाली है जिसमें हमेशा के लिए अविनाशी अक्षय आत्मा अवस्थित होगा। यह 14वें अंतिम गुणस्थान की स्थिति है।

अध्याय -3

गुणस्थान एवं मार्गणाएं

मार्गणाऐं गुणस्थान अभिगम का अभिगन्न अंग है। इनका अध्ययन गुणस्थान को समझने हेतु आवश्यक है। षट्खण्डागम में कहा गया है-

जाहि व जासु व जीवा मणिज्जंते जहा तहा दिड्डा ।

ताओ चौदस जाणे सुवणाणे मम्मणा होंति।।4।। षट्खण्डागम 1।1।2 पृ. 132

नय शब्दों में जिन-जिन अपेक्षाओं से जीव की विभिन्न अवस्थाओं या पर्यायों का अध्ययन किया जाता है उन्हें मार्गणा कहा जाता है। इसके माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति करता है। अन्य शब्दों में जीव की शारीरिक,एन्द्रिक मानसिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों के मार्गों को ही माग्गणा या मार्गणा कहे जा सकते हैं। जीवसमास (श्वेताम्बर), षटखणडागम(यापनीय) गौम्मटसार(दिगम्बर), दर्शनसार व धवलाटीका आदि में इनका उल्लेख मिलता है। मार्गणा गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से मार्गणा के चार अर्थ हैं- मृगयिता, मृग्य, मार्गणा और मार्गणोपय। चौदह गुणस्थानों से युक्त जीव मृग्य अर्थात अन्वेषण करने योग्य है। मृग्य पद से सूचित होता है कि मार्गणा भी चौदह गुणस्थानों की द्योतक हैं। सत् संख्या आदि अनुयोग द्वारों से युक्त चौदह जीवसमास जिसके द्वारा या जिसमें खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं।

जीवसमास गुणी और गुणस्थान गुण है गुण को छोड़कर गुणी और गुणी को छोड़कर गुण नहीं रहते, गुणियों में गुणों का उपचार करके गुणी को भी गुण कह दिया जाता है (गुणिषुः गुणोपचारः) अतः जीवसमास को गुणस्थान भी कहते हैं। मार्गणा को भी गुणस्थान कहते हैं वस्तुतः ये गुणस्थानक अवस्थाओं के आरोहण के मार्ग माने जा सकते हैं। जिस प्रकार जीवादि सप्त तत्त्व व षट द्रव्य गुण स्थानक विषयवस्तु से सम्बन्ध रखते हैं वही सरोकार गुणस्थान से मार्गणाओं का है। जैन दर्शन में जिन चौदह मार्गणाओं का उल्लेख मिलता है वे इस प्रकार हैं-

गइ इन्दियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा भव सम्मे सन्नि आहारे ।। 6 ।। जीवसमास।।

गइ इन्दियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत सण्णि आहारे ।। 57 ।। पञ्चसंग्रह।।

गति, इन्द्रिय,काय,योग,वेद,कषाय,ज्ञान,संजम,दर्शन,लेश्या,भव्यत्व,सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार ये 14 जीव मार्गणाएं हैं।

(1) गति मार्गणा–

सुरनारएसु चउरो जीवसमासा उ पंच तिरिएसु।

मणुयगईए चउदस मिच्छदिट्ठी अपज्जत्ता।। जीवसमास

देव तथा नारक में चार, त्रियंच में पाँच , मनुष्य में चौदह तथा अपर्याप्त जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि नामक एक जीव समास (गुणस्थान) होता है। गति के चार प्रकार हैं-

(अ) देव और नरक गति- यहाँ मिथ्यादृष्टि से लेकर चतुर्थ सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक पाया जाता है।

(ब) **तिर्यञ्च गति-** मिथ्यादृष्टि से लेकर पंचम देशविरत गुणस्थान तक अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च- में ही संभव है।

(स) **मनुष्य गति-** इसमें चौदह गुणस्थान संभव हैं।

(2) <u>इन्द्रिय मार्गणा</u>-

एगिंदिया य वायरसुहुमा पज्जत्तया अपज्जत्ता।
वियत्तियचउरिंदिय दुविहभेय पज्जत्त इयरेय।।23।।
पंचिदिया असण्णी सण्णी पज्जत्तया अपज्जत्ता।
पंचिदिएसु चौद्दस मिच्छद्दिट्ठी भवे सेसा।।24।। जीवसमास

एकन्द्रिय के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त तथा अपर्याप्त ये 4 भेद हैं। द्वि,त्रि व चतुरिन्द्रिय तीनों के पर्याप्त - अपर्याप्त ऐसे 6 भेद हैं। पंचेन्दिय जीवों के संज्ञी-असंज्ञी, पर्याप्त - अपर्याप्त ऐसे 4 भेद हैं। जीव त्रस नाम कर्म के उदय से एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियों में सैनी-असैनी उत्पन्न होता है। एक से चतुरेन्द्रिय जावों के मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है जबकि पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व से अयोग केवली तक 14 गुणस्थान होते हैं।

(अ) एकेन्द्रिय जीव - सूक्ष्म-अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, बादर अपर्याप्त और बादर पर्याप्त(4)

(ब) द्वि इन्द्रिय जीव - पर्याप्त, अपर्याप्त (2)

(स) त्रि इन्द्रिय जीव- पर्याप्त, अपर्याप्त (2)

(द) चतुरिन्द्रिय जीव- पर्याप्त, अपर्याप्त (2)

संज्ञी पर्याप्त,संज्ञी अपर्याप्त, असंज्ञी पर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त (4) कुल =14

एक से चतुरिन्द्रिय जीवों के मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है जबकि पंचेन्द्रिय के मिथ्यात्व से अयोग केवली तक 14 गुणस्थान होते हैं। इन्द्रिय की अपेक्षा से जीव के ये कुल=14 भेद या 14 भूत ग्राम कहे गये हैं। अपर्याप्त जीवों के दो भेद हैं-

(क) लब्धि अपर्याप्त- वे जीव हैं जो अपर्याप्त नाम कर्म के उदय से स्वयोग्य प्राप्तियों को पूर्णतः प्राप्त किए बिना ही मर जाते हैं।

(ख) करण अपर्याप्त- जो जीव हैं जिनके अपर्याप्त नाम कर्म का उदय जो या न हो फिर भी शरीरादि इन्द्रियों को अपने करण से प्राप्त नहीं कर लेते तब तक अपर्याप्त ही कहे जाते हैं। पर्याप्तियों के 6 प्रकार कहे गये हैं- आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छवास भाषा व मनः पर्याप्ति।

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाण भासमणे।
चत्तारि पंच एगिंदियविगलसण्णीणं।।25।। जीवसमास।

(3) <u>काय मार्गणा-</u>

पुढविदगअगिणमारुय साहारणकाइया चउद्धा उ।
पत्तेय तसा दुविहा चोद्दस तस सेसिया मिच्छा।।26।। जीवसमास

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय इन पाँच स्थावर काय में मिथ्यात्व गुणस्थान पाया जाता है। त्रसकाय जावों में 14 गुणस्थानों की संभावना रहती है।

(अ) **पृथ्वी-**इसके भेदों को निम्नवत् रूप से समझा जा सकता है-_**पृथ्वीकाय** – जिससे जीव निकल गया, **पृथ्वीकायिक** – जिसमें जीव विद्यमान हो तथा **पृथ्वीजीव–** जो जीव विग्रह गति से आता है और पृथ्वी में उत्पन्न होता है।

(आ) **जल- जलकाय-** जिससे जीव निकल गया, **जलकयिक**- जिसमें जीव विद्यमान हो, **जलजीव-** विग्रह गति से आकर जल में उत्पन्न होना। इसी प्रकार अग्नि और वायु का विश्लेषण है।

(4) <u>योग मर्गणा</u>-

सच्चे मीसे मोसे असच्चमोसे मणे य वाया य।
ओरालियवेउ आहारयमिस्सकम्मइए।।55।। जीवसमास

मन वचन काय के निमित्त या जीव प्रदेशों के संयोग से आत्मा के जो वीर्य विशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहा जाता है। तीन योग में 13 गुणस्थान होते हैं अयोगी केवली गुणस्थान में योग अभाव होता है। योग के 15 भेद हैं।

<u>मन योग</u>- सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, सत्यमृषा मनोयोग तथा असत्यमृषा मनोयोग (4) ये मन योग के भेद हैं।

<u>वचन योग</u>- सत्य वचन, असत्य वचन,सत्यमृषा वचनयोग, असत्यमृषा वचनयोग(4), ये वचन योग के भेद हैं।

<u>काय योग-</u> औदारिक शरीर,औदारीक मिश्रशरीर, वैक्रियशरीर, वैक्रिय मिश्रशरीर तथा तैजसकर्माण शरीर काययोग (7) ये काय योग के भेद हैं।

इस प्रकार योग के कुल = 15 हैं। उपर्युक्त 15 में से सत्य मनोयोग, सत्य वचन योग, असत्य-अमृषा मनोयोग और असत्य-अमृषा वचन योग ये 4 मिथ्यादृष्टि से सयोग केवली तक के हो सकते हैं तथा शेष 4 असत्य मनोयोग, असत्य वचन योग, सत्यासत्य या मिश्र मनोयोग एवं मिश्र वचनयोग संज्ञी प्राणी में मिथ्यादृष्टि से क्षींणमोह गुणस्थान तक संभव है। असंज्ञी विकलेन्द्रिय जीवों के मात्र असत्य-अमृषा रूप अंतिम मनोयोग एवं वचन योग ही होता है। छठवें गुणस्थान में जब साधु आहारक शरीर को उत्पन्न होता है उस समय आयु शेष रहने से या मरण होने से उसका औदारिक शरीर से सर्वदा सम्बन्ध नहीं छूट जाता । धवला गाथा 164-165 में स्पष्ट किया गया है छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपने को संदेह होने पर जिस शरीर के द्वारा केवली के पास जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहारण करता है, उसे आहारक शरीर या आहारक योग कहते हैं जो नाम कर्म से उत्पन्न होता है। इनके शरीरक्रम में गुणस्थानक भेदाभेद निम्न रूप से किये गये हैं-

देव और नारकी- देव और नारकी वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक– वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और तैजस कार्माण शरीर वाले होते हैं।

मनुष्य और तिर्यञ्च- मनुष्य और तिर्यञ्च- वैक्रिय और औदारिक शरीर वाले होते हैं। मनुष्य मिथ्यादृष्टि से सयोग केवली गुणस्थान तक औदारिक व वैक्रिय शरीर वाले होते हैं। तिर्यञ्च- मिथ्यादृष्टि से देशविरत गुणस्थान तक औदारिक शरीर वाले होते हैं। मनुष्यों में अप्रमत्तसंयत गुणस्थान एवं उससे आगे की अवस्था में वैक्रिय काययोग संभव नहीं है।

सभी प्रकार के अपर्याप्त जीव- मिश्र शरीर वाले होते हैं। मनुष्यों में अप्रमत्तसंयत गुणस्थान एवं उससे आगे की अवस्था में वैक्रिय काययोग संभव नहीं ।

प्रमत्तसंयत 14 पूर्वों के ज्ञाता मुनियों में आहारक काययोग की संभावना रहती है अपर्याप्त अवस्था में मिश्र गुणस्थान नहीं होता- वैक्रिय काययोग संभव है। मिश्र गुणस्थान में मृत्यु योग न होने से तैजस कार्माण शरीर नहीं होता यह काययोग मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, अविरत सम्यग्दृष्टि तथा केवली समुद्घात करते समय सयोग केवली में संभव है।

(5) <u>वेद मार्गणा-</u>

नेरइया य नपुंसा तिरिक्खमणुया तिवेयया हुंति।

देवा य इत्थिपुरिसा गेविज्जाई पुरिसवेया ।।59।। जीवसमास

जैन दर्शन में तीन वेद का अर्थ- स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद एवं तत्सम्बन्धी कामवासना से लिया गया है। स्त्रीवेद- अर्थात् जैसे पित्त से मयदुर पदार्थ की रुचि उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमने की इच्छा होती है। पुरुषवेद- अर्थात् जैसे कफ जैसे खट्टे पदार्थों मे रुचि होती है उसी प्रकार पुरुष को स्त्री के साथ रमने की इच्छा होती है। नपुंसकवेद- अर्थात् जैसे पित्त कफ के प्रभाव से मद्य के प्रति रुचि होती है उसी प्रकार नपुसंक को स्त्री-पुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा होती है। (संदर्भ-अभिदान राजेन्द्रकोश भाग-6 पृष्ठ 1427, बृहदकल्प, उद्देशक 4 , कर्मग्रंथ 1/22)

सम्मूर्क्षन जीव विकलत्रय नपुंसक जो ढाई द्वीप में ही होते हैं नपुंसक मनुष्य गति में भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। यदि वह द्रव्य से पुरुष व भाव से नपुसंक हो तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उत्तम संहनन का अभाव होने से स्त्री मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। गुणस्थान एवं वेद मार्गणा के पारस्परिक सम्बन्धों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है –

<u>गति के क्रम में</u> -

नारकी जीवों के	- नपुंसक वेद (लिंग)
देव पर्याय में	- स्त्री एवं पुरुष वेद
मनुष्य व तिर्यञ्चों में	– तीनों ही वेद

गुणस्थान की दृष्टि से- दिगम्बर परम्परा में सातवें गुणस्थान से आगे मात्र पुरुष ही आरोहण कर सकते हैं। (इस बहु प्रचलित विधान का खण्डन दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ उमास्वामि कृत तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दस के नवें सूत्र से होता है जिसमें कहा गया है कि अलिंग से ही सिद्ध होते हैं या द्रव्य पुल्लिंग से ही सिद्ध होते हैं तथा भाव लिंग की अपेक्षा से तीनों लिंगों

से भी सिद्ध हो सकते हैं)। श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि दसवें से चौदहवें गुणस्थान तक समस्त काम वासनाऐं समाप्त हो जाने से तीनों ही लिंगधारी मोक्ष जा सकते हैं।
मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अनिवृत्ति वादर साम्पराय नामक नवमें गुणस्थान तक तीनों काम वासनाओं (वेद) के प्राकट्य की संम्भावना रहती है। मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अनिवृत्ति बादरसम्पराय नामक 9वें गुणस्थान तक तीनों कामवासनाओं (वेद) के प्राकट्य की संभावना रहती है तथा अवेदियों में अनिवृत्ति से लेकर अयोगीकेवली तक 6 गुणस्थान पाये जाते हैं।

(6) <u>कषाय मार्गणा-</u>

अनियट्टन्त नपुंसा सन्नीपंचिदिया य थी पुरिसा।
कोहो माणो माया नियट्टि लोभो सरागंतो।।60।। जीवसमास

कषाय के कुल 25 भेद हैं- तीव्रताक्रम की 4 श्रेणियों (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलन) के कषाय चतुष्क(क्रोध,मान, माया,लोभ) के 16 भेद तथा हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, तीन वेद(स्त्री, पुरुष,नपुसंक) सम्बन्धी कामवासनीय विकार आदि। गुणस्थान एवं कषाय सम्बन्धी विधानों को निम्नवत् रूप से स्पष्ट किया जा सकता है-
उदय की दृष्टि से- प्रथम- मिथ्यादृष्टि जीव के- 25 कषायों की सम्भावना रहती है। चतुर्थ-सम्यग्दृष्टि जीव के- 21 कषायों की सम्भावना (अनन्तानुबन्धी 4 कषायों का अभाव) रहती है। पंचम- देशविरत सम्यग्दृष्टि जीव के – 17 कषायों की संम्भावना (अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क(8) का अभाव) रहती है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानधारी के- 13 कषायों की संभावना (उपर्युक्त के अतिकिक्त प्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क (12) का अभाव) रहती है।नवमें गुणस्थानधारी के- 7 कषायों की सम्भावना (संज्वलन+वेदत्रिक) रहती है। दसवें गुणस्थानधारी के- 1 (संज्वलन लोभ शेष रहता है) कषाय की ही अत्यल्प रूप में संभावना रहती है। दसवें गुणस्थान से ऊपर कषाय मार्गणा का अभाव हो जाता है। संज्ञी पंचेनद्रिय जीवों में अनिवृत्ति बादर सम्पराय नामक गुणस्थान तक तीनो वेद व क्रोध मान माया ये तीन कषाय दोते हैं। सूक्ष्म लोभ 10वें गुणस्थान तक ही रहता है। क्रोध मान माया व लोभयुक्त जीव कषायी होते हैं। अर्थात् प्रथम 10वें गुणस्थान तक कषाय रहते हैं तथा 11वें से 14वें गुणस्थान तक जीव अकषायी हो जाते हैं।

(7) <u>ज्ञान मार्गणा</u>-

आभिणिसुओहिमणकेवलं च नाणं तु होइ पंचविहं।
उग्गह ईह अवाय धारणा भिणिवोहियं चउहा ।।69।। जीवसमास

आभिनबोधिकज्ञान (मतिज्ञान) श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान- ये पाँच प्रकार के ज्ञान हैं। अभिनबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान भी चार प्रकार का है-

अवग्रहेयावायधारणा।।त. सू. अध्याय-1।।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। तत्त्वार्थ में रुचि, निश्चय और चारित्र का धारण करना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान अर्थात् जानना। ज्ञान के दो प्रकार हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष । मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्यय एवं केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँच भेदों में से प्रथम दो परोक्ष व अंतिम तीन प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। मति अज्ञान, श्रुति अज्ञान एवं विभंग ज्ञान इन तीन ज्ञानों की सत्ता मिथ्यादृष्टि व सास्वादन गुणस्थान में रहती है। तृतीय मिश्र गुणस्थान में इन तीनों का समुच्चय देखने को मिलता है। सम्यक्त्व गुणस्थान से क्षीणमोह गुणस्थान तक मति, श्रुति व अवधि तीनों की संभावना रहती है। प्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणमोह गुणस्थान तक मति, श्रुति, अवधि व मनः पर्यय इन 4 की संभावना रहती है। सयोग केवली व अयोग केवली के सिर्फ केवलज्ञान होता है। मनः पर्यय ज्ञान मनुष्यों में सम्यकदृष्टि छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के ही होता है। इसके दो भेद हैं- ऋजुमती व विपुलमती। विपुलमती ज्ञान केवलज्ञान होने तक नहीं छूटता। केवलज्ञान के बाद मति श्रुति आदि कोई भेद नहीं रह जाता। भाग्यानुकूल होने पर, कालाब्धि मिलने पर सागर रूपी संसार का तट पास में आ जाने पर तथा भव्त्व भाव पक जाने पर जीव को सम्यक्त्व होता है।

(8) <u>संयम मार्गणा</u>-

अजया अविरयसम्मा देसे विरया य हुंतिसड्ढाणे।

सामाइयछेयपरिहारसुहुमअहक्खाइणो विरया।।66।।जीवसमास

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहाविशुद्धि ,सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्याति(5) ये संयम अर्थात् चारित्र के भेद कहे गये हैं। चारित्र विकास की ये प्रमुख अवस्थाएं हैं-

- अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान तक सम्यकचारित्र नहीं होता है।
- प्रथम से सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक- चारित्र का अभाव होता है।
- देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक- आशिंक सम्यग्चारित्र सदभाव की परिणति होती हैं।
- प्रमत्तसंयत से अनिवृत्ति बादर गुणस्थान तक- समायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र पाया जाता है।
- अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही- परिहार विशुद्धि चारित्र होता है।
- सूक्ष्मसांम्पराय गुणस्थान में ही- सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। तथा
- उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली में- यथाख्यात चारित्र संभव है।
- देशविरति चारित्र पाँचवें गुणस्थान में ही होता है।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रमत्तसंयत से अयोगकेवली गुणस्थान तक संयत जीव होते हैं। सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनीयसंयत जीव प्रमत्तसंयत से लेकर अनिव़त्तिबादरसम्पराय तक पाये जाते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र वाले जीव अप्रमत्तसममत्त गुणस्थान में होते होते हैं। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र वाले जीव मात्र सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में होते हैं। यथाख्यात चारित्र वाले संयतजीव उपशान्त कषाय गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक होते हैं। संयतासंयत जीव मात्र देशविरत गुणस्थान में होते हैं। असंयत जीव प्रारम्भ के 4 गुणस्थान में होते हें।

(9) <u>दर्शन मार्गणा</u>-

चउरिंदुयाइ छउमें चक्खु अचक्खू य सव्व छउमत्थे।
सम्मे य ओहिदंसी केवलदंसी सनामे य।।69।। जीवसमास

चक्षु, अचक्षु, अवधि एवं केवल दर्शन ये चार भेद दर्शन मार्गणा के हैं। गुणस्थान श्रेणीं व दर्शन मार्गणा की उपस्थिति सम्बन्धी विधान इस प्रकार है-

- मिथ्यादृष्टि से क्षीण मोह गुणस्थान तक (1 से 12)- चक्षु –अचक्षु (2) दर्शन संभव हैं।
- अविरत सम्यग्दृष्टि से क्षीण मोह गुणस्थान तक (4 से 12) अवधि दर्शन संभव है।
- सयोग और अयोग केवली गुणस्थान में ही (13 से 14) केवल दर्शन संभव होता है।

चक्षुरनिद्रियाभ्याम्।। त. सू. अ-1।।

चक्षु दर्शन उपयोग वाले जीव चतुरेन्द्रिय से लेकर क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान तक होते हैं। अचक्षु दर्शन छद्मस्थधारियों को होता है किन्तु चतुरिन्द्रिय लेकर छद्मस्थ अवस्था तक के प्रणियों को चक्षु दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टि में अवधि दर्शन तथा केवली में केवल दर्शन होता है।

(10) <u>लेश्या मार्गणा</u>-

गुणस्थानों की उत्पत्ति मोहनीय कर्म (कषाय) और योग के बलाबल के अनुसार होती है। कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। "कर्मस्कन्धैरात्मानं निम्पतीति लेश्या" अर्थात् जो कर्म स्कन्धों से आत्मा को लिप्त करती है इसे लेश्या कहते हैं।

लिप्पइ अप्पीकीरई एयाए (एवीए) णिय अप्पुण पुण्णं च ।
जीवोत्ति होवि लेस्सा लेस्सागुण जाण यक्खादा ।। 2 ।। षट्खण्डागम

जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य- पाप से लिप्त करे अथवा उनको अपने साथ एकरूप करे (आत्मी क्रीयते), उसे लेश्या कहते हैं। इसी क्रम में कहा जा सकता है कि कषाय का उदय छ प्रकार का होता है- तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। परिपाटीक्रम में लेश्याएं भी छः हो जाती हैं- कृष्ण, नील, कपोत, तेज या पीत, पद्म और शुक्ल।

किण्हा नीला काऊ अविरयसम्मंतसंजयंत पर।
तेऊ पम्हा सण्णप्पमायसुक्का सजोगंता।।70।।जीवसमास
चंडो ण मुयदि वेरं भंडण-सीलोय धम्म दथ रहियो।
दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणभेदं तु किष्हस्स ।। 200।। धवलासार
मंदो बुद्धि विहीणो णिव्विण्णाणी य विसप लोलोय।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेय भेज्जो य ।। 201।। धवलासार

कृष्ण, नील, कापोत और तेजो (पीत) पद्म तथा शुक्ल इन छः लेश्यओं में प्रथम तीन – मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक संभव हैं। और अंतिम तीन लेश्याओं में से मिथ्यादृष्टि से अप्रमत्त गुणस्थान तक- तेजो और पद्म लेश्या की संम्भावना रहती है तथा

तीर्थंकर नामकर्म के चलते मिथ्यादृष्टि से सयोगकेवली तक शुक्ल लेश्या संभव है। इससे आगे जीव लेश्या रहित है।

इन छः लेश्याओं में तारतम्यता दिखलाने के लिए प्रसिद्ध उदाहरण है- छः पुरुष जामुन खाने चले। फलों से लदे जामुन का वृक्ष देखकर उनमें से एक कहता है कि लो भाई यह रहा जामुन का पेड़ चलो इसे धराशाही कर दे और मन चाहे फल खाएं। दूसरे ने कहा कि वृक्ष को काटने से क्या लाभ ? चलो इसकी मोटी मोटी शाखाएं ही काट लेते हैं। तीसरा बोला शाखाओं को काटने की क्या आवश्यकता है ? टहनियां ही काट लेना काफी होगा। चौथे ने कहा कि फलों के गुच्छे ही तोड़ लो। पाँचवा बोला हमें तो जामुन ही चाहिए तो वही क्यों न तोड़ लें। छठे का मत था कि मुझे तो तुम लोंगों की बात नहीं जची जब हमें पके फल ही चाहिए तो नीचे गिरे हुए ही फल क्यों न बीन के खालें ? इन छः लेश्याओं के परिणमन को उक्त उदाहरण भलीभाँति स्पष्ट करता है। प्रथम तीन कृष्ण नील कपोत है जिनमें किलिष्ट परिणामों की तीव्रता कम हो जाती है अर्थात् विनाश का प्रभाव कुछ कम होता जाता है। अंतिम तीन पीत पद्म और शुक्ल लेश्याऐं हैं जो उत्तरोत्तर भावों की उत्कृष्टता अर्थात् परिणामों की निर्मलता प्रकट करती हैं।

नरकों में लेश्या-

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणप्पभाइणं ।। 72 ।। जीवसमास।।
काऊ काऊ तह काऊ -णील णीला य णील-किण्हा य ।

किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणादि - पुढवीसु ।। 185 ।। पञ्चसंग्रह।।

(ब) देवों में लेश्या-

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्ह पम्हा य पम्हसुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का सक्कादिविमाणवासीणं ।।73 ।। जीवसमास।।
तेऊ तेऊ वह तेऊ-पम्ह पम्मा य पम्म-सुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का लेसा भवाणइदेवाणं ।। 189 ।। पञ्चसंग्रह।।

तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मंद,मंदतर तता मंदतम आदि छः कषाय के उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम में कृष्ण, नील, कापोत और तेजो (पीत) , पद्म तथा शुक्ल ये 6 लेश्याएं कही गई हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

- कृष्ण लेश्या- क्रोधी लम्पट मायावी, आलसी व भीरू।
- नील लेश्या- अति निद्रालु, दूसरों को ठगने में दक्ष, धन-धान्य विषय में तीव्र लालसा रखने वाला । यथा-

णिद्दा- वंचणि-बहुलो, धण धण्णे होई तिव्व सण्णोय।
लक्खणभेदं भणियं सभासदो णील- लेस्स।।202।। जीवसमास

- दूसरों के ऊपर क्रोध करने वाला, दूसरों की निन्दा करने वाला, दूसरों को अनेक प्रकार दुःख देने वाला, दोष लगाने वाला, अत्यधिक शोक भय करने वाला, सहन न करने वाला, अपनी प्रशंसा करने वाला, चापलूसी से खुश रहकर अपने हानि-लाभ का विचार न करना।
- तेजो (पीत) लेश्या- जो कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को जानता है सबके विषय में समदर्शी नहीं है, दया व दान में तत्पर हैं, मन वचन काय से कोमल परिणामी हैं।
- पद्म लेश्या- जो त्यागी है, भद्र परिणामी है, निर्भय है, निरन्तर कार्य में तत्पर है तथा अनेक प्रकार से कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गों को क्षमा कर देता है।
- शुक्ल लेश्या- जो पक्षपात नहीं करता, निदान नहीं बाँधता, सबके साथ समान रहता है, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषादि से रहित है।

(11) **भव्यत्व मार्गणा-**

मिच्छदिट्ठी अभव्वा भवसिद्धीया स सव्वठाणेसु।
सिद्धा नेव अभव्वा नवि भव्वा हुंति नायव्वा।।75।। जीवसमास

जीवसमास की दृष्टि से जीव के भव्य एवं अभव्य ये दो भेद माने गये हैं। अभव्य जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं जबकि भव्य जीव मिथ्यादृष्टि से सयोग केवली गुणस्थान तक हो सकते हैं। अभव्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते इसलिए सास्वादन व मिश्र गुणस्थान में इनका अस्तित्व ही नहीं होता। अभव्य जीवों को मात्र एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है । तद्भव मोक्षगामी जीवों को सभी गुणस्थान संभव हैं। सिद्ध जीव न तो भव्य होते हैं और न अभव्य। भव्य-अभव्य का निर्णय स्वयं कर सकते हैं ऐसा कुन्द- कुन्द स्वामी प्रवचनसार में स्पष्ट करते हैं-

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमंति विगद घाणीदं।
सुणिदूम ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिंच्छंति।।62।।

भव्य जीवों के प्रकार-

1. **आसन्न भव्य निकट भव्य –** जो कुछ भव धारण करके या तद्भव मोक्षगामी है। जो जिन पूजा – स्तुति में शुद्धोपयोग से शान्ति का अनुभव करता है।
2. **दूरभव्य-** कालान्तर में अनेक भव धारण करके मोक्षगामी है। जिसे जिन पूजा–स्तुति करने से शान्ति का अनुभव नहीं होता है।
3. **दूरान दूर भव्य या अभव्य समान-** कभी मोक्ष नहीं होगा। जो बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक जिनवाणी आदि का श्रवण करने पर भी निजात्म शान्ति का अनुभव नहीं करता उसे भव्य ही मानना चाहिए।
4. **नित्य निगोद-** जो अभी निगोद से निकला नहीं है।

(12) <u>सम्यक्त्व मार्गणा-</u>

मइसुइनाणावरणं दंसणमोहं च तदुवघाईणि।
तप्फगाइं दुविहाइं सव्वदेसेवघाईणि।।76।।जीवसमास
छप्पचं णव विहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिमेण व सद्दहणं होई सम्मत्तं।।212।। धवला

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण दर्शनमोनी. ये तीनों सम्यक्दर्शन के उपघातक हैं। इसके स्पर्धक हो प्रकार के हैं- देशघाती तथा सर्वघाती। जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट 6 द्रव्य 5 अस्तिकाय और नव पदार्थों की आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम, वेदक या क्षयोपशमिक तथा क्षायिक ये सम्यक्त्व के भेद हैं। उदाहरण- जिस प्रकार माटीयुक्त पानी से भरे ग्लास में मिट्टी के बैठ जाने पर जल निर्मल दिखता है ठीक उसी प्रकार दर्शन मोहनीय के उपशान्त होने पर जो सत्यार्थ सिद्दान्त होता है उसे उपशम सम्यक्दर्शन कहते हैं। इनके दो भेद हैं-प्रथमोपशम सम्यक्त्व व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। 4 अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यात्व और सम्यग् मिथ्यात्व के क्षय को क्षयोपशम सम्यक्त्व कहा जाता है। क्षयोपशम सम्यकदृष्टि जीव शिथिल श्रद्धानी होता है इसे भटकने में देर नहीं लगती। दर्शन मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है यह नित्य है और कर्मों के क्षय का कारण है। क्षायिक सम्यकदृष्टियों का व कृत्कृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि का त्रियंच गति में जाने पर अन्य गुणस्थानों में संक्रमण नहीं होता। सातवीं पृथ्वी के सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी जीव अपने-अपने गुणस्थान सहित नरक से नहीं निकलते। आयु क्षीण होने के प्रथम समय में ही सासादन गुणस्थान का विनाश हो जाता है। विधान यह भी है कि चारों गतियों के जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में आयु कर्म का बन्ध करते हैं इसलिए उस गुणस्थान सहित अन्य गतियों में जाते हैं। सातवीं पृथ्वी को छोडकर अन्य सब गतियों के जीव सासादन गुणस्थान में आयु बंध करते हैं और इन गतियों से निकलते भी हैं यहाँ नरकायु नहीं बधती । देशविरत

गुणस्थान केवल त्रियंच और मनुष्य इन दो गतियों में ही होता है इन गुणस्थान में आयु बंध देव गति का होता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान केवल मनुष्य गति में पाये जाते हैं जहाँ देवायु बंध संभव है। अप्रमत्त गुणस्थान में आयुबंध का विच्छेद हो जाता है अर्थात अपूर्वकरण आदि सात गुणस्थानों में आयुबंध नहीं होता किन्तु उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थानों में चढते उतरते हुए किसी भी गुणस्थान में मरण संभव है। अयोग गुणस्थान से केवलियों का संसार से निर्गमन होता है अतः उपशम श्रेणी और अयोग गुणस्थान में तो जिस गुणस्थान में आयुबंध नहीं होता उसमें भी निर्गमन संभव है जबकि अन्य अवस्थाओं में निर्गमन उसी गुणस्थान सहित संभव है जिस गुणस्थान में आयुबंध संभव हो। गुणस्थानों में इनकी स्थित इस प्रकार है-

तीनों सम्यक्त्व – अविरति सम्यकदृष्टि से 11वें गुणस्थान तक संभव।

उपशम सम्यक्त्व – मात्र उपशान्त मोह गुणस्थान तक ही रहता है।

क्षायिक सम्यक्त्व - अविरति सम्यकदृष्टि से 14वें अयोग केवली गुणस्थान तक संभव।

सम्यक्त्व मार्गणा व गुणस्थान सम्बन्धी विधान-

- सासादन सम्यकदृष्टि जीव एक सासादन सम्यकदृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं।
- जो सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ उसे सासाधन सम्यग्दृष्टी कहते है। यह गुणस्थान सादि और पारणामिक भाव वाला है। यथा-

ण य मिच्छत्तंव पत्तो सम्मत्तादो य जोदु परिवादो।
सो सालिणो त्ति णेयो सादिय भव पारिणामिओ भावो।।210।। धवला

इस गाथा के आधार पर निम्न लिखित विधान किए जा सकते हैं-

- नारकी जीव मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि होते हैं। ये असंयत सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में क्षायिक सम्यकदृष्टि, वेदक सम्यकदृष्टि और उपशम सम्यकदृष्टि होते हैं।
- नपुंसकवेदी जीव पंचम गुणस्थान तक प्राप्त कर सकता है।
- त्रियंच संयतासंयत गुणस्थान में क्षायिक सम्यकदृष्टि नहीं होते।
- देव असंयत सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में क्षायिक सम्यकदृष्टि, वेदक सम्यकदृष्टि और उपशम सम्यकदृष्टि होते हैं।
- प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, असंयत और संयतासंयत, उपशम सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों से जीवों में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। उपशम, वेदक या क्षयोपशमिक तथा क्षायिक ये सम्यक्त्व के भेद हैं। गुणस्थानों में इनकी उपस्थिति इस प्रकार रहती है- तीनों सम्यक्त्व- अविरत सम्यग्दृष्टि से 11वें गुणस्थान तक संभव हैं। उपशमसम्यक्त्व- मात्र उपशम गुणस्थान तक ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व- अविरत सम्यक्त्व से सयोग केवली तक संभव है।

(13) <u>संज्ञी मार्गणा-</u>

असण्णि अमणपंचिंदियंत सण्णी उ समण छउमत्था।

नोसण्णिनो असण्णी केवलनाणी उ विण्णेआ।।81।।जीवसमास

मीमांसादि जो पूव्वं कज्जं च तच्च मिदरमं च।

सिक्खादि णामेणेदि य सो समणो असमणो यं विवरीदो।।221।। धवला

समझ व विवेक की दृष्टि से जीवों के दो भेद हैं- संज्ञी व असंज्ञी। असंज्ञी जीवों में मन रहित पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव समाहित होते हैं। असंज्ञी जीव मिथ्यादृष्टि व सास्वादन गुणस्थान में ही संभव है। संज्ञी जीवों में मनसहित छद्मस्थ जीव समाहित हैं। संज्ञी(समनस्क) जीव मिथ्यादृष्टि से क्षीणमोह गुणस्थान तक संभव हैं। सयोग केवली व अयोग केवली विचार की अपेक्षा से न तो संज्ञी हैं और न ही असंज्ञी वे मात्र साक्षी भाव में ही रहते हैं क्योंकि वहाँ विचार विकल्प का अभाव है।

(13) <u>आहार मार्गणा</u>-

विग्गहइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आराहरगा जीव।।82।।जीवसमास

णोक्कम कम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो।

ओ ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहोणेओ।।222।।धवला

विग्रह गति कर रहे जीव, केवलीसमुद्घात कर रहे केवली, अयोगी केवली तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं तथा शेष सभी जीव आहारक। नौ कर्म आहार,कर्म आहार, ओजाहार, लेपाहार,मानसिक आहार और कवलाहार ये छः प्रकार के आहार हैं। सभी परम औदारिक शरीरधारियों केवलिओं के नो कर्म आहार होते हैं। सभी नारकियों का कर्म फल को भोगना ही कर्म आहार है।सभी देवों के मानसिक आहार होता है। सभी मनुष्यों व त्रियंचों के कवलाहार होता है। जो पक्षी अपने शरीर की गर्मी से अण्डे सेती हैं उसे ओजाहार कहते हैं एकेन्द्रिय जीवों के लेपाहार होता है।

णोक्कमं तित्थयरे कम्मं णारये णाणसो अमरे।

कवलाहारो णरपशु उजजो पक्खाणि इगि लेपो।। धवला

जो आहार ग्रहण करें वे आहारक तथा इसके विपरीतजीव अनाहारक कहलाते हैं। विग्रहगति(एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने वाला यात्री जीव), केवली समुद्घात करने वाले (संलेखना- समाधिमरण) केवली, अयोग केवली व सिद्ध अनाहारक जीव व शेष आहारक जीव माने गये हैं। मिथ्यादृष्टि, सास्वादन व अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीव विग्रह गति में यात्रा कम करते समय ही अनाहारक रहते हैं शेष समय में आहारक होते हैं। सयोग केवली गुणस्थान में समुदघआत करने वाला जीव इसके तासरे, चौथे और पाँचवें समय में अनाहारक होता है। अयोग केवली जीव अनाहारक है। आहारक जीवों में मिथ्यादृष्टि से सयोग केवली गुणस्थान संभव है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा में सयोग केवली कवलाहार नहीं करता जबकि श्वेताम्बर परम्परा में इसके विपरीत विधान है। (तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि

टीका 1/8) । ओजाहार, लोभाहार और कवलाहार ये तीन प्रकार के आहार हैं । जो आहार ग्रहण करें वे आहारक इसके विपरीत अनाहारक जीव होते हैं। इससे सम्बन्धित विधान इस प्रकार हैं-

- केवली समुद्घात करने वाले (सल्लेखना समाधि मरण) केवली अयोगकेवली और सिद्ध- अनाहारक जीव तथा शेष आहारक जीव माने गये हैं।
- मिथ्यादृष्टि, सास्वादन व अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले जीव विग्रहगति में यात्रा करते समय ही अनाहारक रहते है शेष समय आहारक होते हैं।
- सयोग केवली गुणस्थान में समुद्घात करने वाला जीव उसके तीसरे, चौथे और पाँचवे समय में अनाहारक होता है। अयोगकेवली जीव अनाहारक है।

आहारक जीवों में – मिथ्यादृष्टि से सयोग केवली गुणस्थान संभव है।

टिप्पणी-

दिगम्बर परम्परा में सयोगी केवली कवलाहार नहीं करते जबकि श्वेताम्बर परम्परा में केवली कवलाहार करते हैं।

विग्रह गति- एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करने वाला यात्री जीव हैं।

<u>अध्याय-4</u>

गुणस्थान व अनुयोग द्वार चिन्तन

भवभावपरित्तीणं कालविभागं कमेणणुगमित्ता।
भावेण समुवउत्तो एवं कुज्जतराणुगमं।। 263।। जीवसमास।

संसार में परिभ्रमण कराने वाली जीव की विभिन्न अवस्थाएं हैं इनका चिन्तन द्वारों के माध्यम से किया जाता है। जीवसमास ग्रंथ जिसमें 287 प्राकृत गाथाएं हैं वे आठ द्वारों में ही विभक्त हैं- सत्पदप्ररूपणा, द्रव्यपरिमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। उमास्वामिकृत तत्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के 8वें सूत्र में कहा है-

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्त्वैश्च।।

यहाँ

सत्- वस्तु के अस्तितिव को सत् कहा जाता है।

संख्या- वस्तु के परिमाम की गिनती को संख्या कहा जाता है।

क्षेत्र- वस्तु के वर्तमान काल के निवास को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन- वस्तु के तीनों काल सम्बन्धी निवास को स्पर्शन कहते हैं।

काल- वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तर- वस्तु के विरह काल को अन्तर कहते हैं।

भाव- औपशमिक, क्षायिक ओदि परिणामों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व- अन्य पदार्थों की अपेक्षा से किसी वस्तु की हीनाधिकता का वर्णन करने को अल्पबहुत्व कहते है।

सत्प्ररूपणा द्वार में जीव व गुणस्थानक स्थितियों का वर्णन है। दूसरा परिमाण द्वार है इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव ये चार विभाग हैं। पुनः द्रव्य अर्थात् संख्या विभाग के मान, उन्मान, अवमान, गनिम और प्रतिमान विभाग डो तौल माप से सम्बन्धित हैं, क्षेत्र परिमाण के अन्तर्गत अंगुल, विलस्ति(वितस्ति), कुक्षी, धनुष, गाऊ, श्रेणी आदि पैमानों की चर्चा है। इसी क्रम में अंगुल के निम्न भेद किए हैं- उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। इसके पुनः भेदों में सूच्यंगल, प्रतरागुंल व घनांगुल ऐसे तीन-तीन भेग किए है। सूक्ष्म क्षेत्रमाप के अन्तर्गत परमाणु, उर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, बालाग्र, लीख, जूँ और जव कू चर्चा है। 6 अंगुल से एक पाद, 2 पाद से एक विलस्ति(वितस्ति) तथा 2 विलस्ति(वितस्ति) का एक हाथ, 4 हाथों का एक धनुष, 2000 हाथ या 500 धनुष का एक गाउ (कोश) होता है और 4 गाउ का एक योजन होता है।

काल की सूक्ष्म इकाई समय है। अयंख्य समय की एक अवलिका होती है। संख्यात अवलिका का एक श्वासोच्छवास या प्राण होता है। सात प्राणों का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव होता है। साढे अड़तीस सव की एक नलिका होती है। दो नलिकाओं का एक मुहूर्त

होता है। तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र(दिवस) होता है। पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। एक पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। दो अयन का एक वर्ष होता है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख वर्षों को चौरासी लाख वर्षों से गुणा करने पर एक पूर्व प्राप्त होता है। पूर्व के आगे नयूतांग, नूयत नलिनांग, नलिन आदि की चर्चा के साथ अंत में शीर्ष प्रहेलिका का उल्लेख है। आगे का काल संख्या बताना संभव न होने से पल्योपम, सागरोपम आदि उपमानों से स्पष्ट किया जाता है। इसके प्रभेदों में संख्यात, असंख्यात और अनन्त को शामिल किया जाता है।

भाव परिमाण में प्रत्यक्ष व परोक्ष को समाहित करते हैं। क्षेत्र द्वार में आकाश को इंगित किया है। स्पर्शन द्वार के अन्तर्गत लोक के स्वरूप व आकाश एवं स्वरूप का वर्णन है। काल द्वार में 3 कालों की चर्चा है- 1. भावायु काल- चारों गतियों के जीवोंकी अधिकतम व न्युनतम आयु की चर्चा है(जीव विशेष की अपेक्षा से तथा इस गति के सर्व जीवों की अपेक्षा से)। इसी कर्म से उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का विवेचन किया गया है। तिर्यक्लोक के अन्तर्गत जम्बूद्वीप और मेरूपर्वत का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और उसके पक्ष्चात् द्विगुण द्विगुण विस्तर वाले लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र, पुष्करद्वीप और उसके मध्यवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा है। इसी चर्चा के अन्तगर्त यह भी बताया गया है कि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही निवास करते हैं। यद्यपि इसके आगे भी द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार वाले असंख्य द्वीप समुद्र हैं। सबके अंत में स्वम्भूरमण समुद्र है।

आठ अनुयोग द्वार

1. **सत्प्ररूपणा द्वार**- इसमें जीव के स्वरूप, भेद व अधिकारों का वर्णन किया है।

2.**परिमाण द्वार-** दव्वे खेत्ते काले भावे य चउव्विहं पमाणं तु। दव्वपएसविभागं पएसमेगाइमणंतं।।87।।जीवसमास।। द्रव्य क्षेत्र काल भाव ये 4 प्रकार के परिमाण कहे गये हैं। परिमाण शब्द का एक अर्थ है- प्रमाण। अर्थात् जिससे पदार्थ की मात्रा या माप को जाना जाय। इन मापों के 5 भेद हैं-

(अ) **मान प्रमाप-** धान्य व तरल पदार्थ को मापने का पात्र। धान्य को अशति या मुट्ठी, प्रसति(पसनियां, अञ्जलि), सेतिका, कुढ़व, प्रस्थ, आढ़क, द्रोण, जघन्य कुम्भ, मध्यम कुम्भ, उत्कृष्ट कुम्भ तथा बाह आदि मगध देश की प्रचलित प्राचीन मापक इकाइयां थीं। 2 अशति = 1 प्रसति, 2 प्रसति = 1 सेतिका, 4 सेतिका = 1 कुढ़व, 4 कुढ़व = 1 प्रस्थ, 4 प्रस्थ = 1 आढ़क, 4 आढ़क = 1 द्रोण, 60 आढ़क = 1 जघन्य कुम्भ, 80 आढ़क = 1 मध्यम कुम्भ, 100 आढ़क = 1 उत्कृष्ट कुम्भ तथा 800 आढ़क = 1 बाह होता है।

तरल पदार्थों का मापन धान्य के माप से चौथाई भाग अधिक मापा जाने का विधान था।

(आ) **उन्मान प्रमाप-** जिन वस्तुओं के साधन तराजू बटखरे होते हैं उन्हें उन्मान प्रमाप कहा जाता है। ये माप हैं- अर्धकर्ष, कर्ष, अर्धपल, पल, अर्धतुला, तुला, अर्धभार व भार। अर्धकर्ष सबसे कम भार का माप है। संभवतः सेर छटाँक व मन का आधार ये मापक रहे होंगे।

(इ) **अवमान प्रमाप-** इनमें भूमि आदि को मापने के प्रमाप सम्मिलित हैं। दण्ड(खेतादि का मापन), धनुष(मार्ग का मापन), नलिका(कुआ व खाई का मापन), अक्ष व मूसल ये सभी चार हाथ परिमाण हैं। 10 नलिका = 40 हाथ = 1 रज्जू। 1 किष्क = 2 हाथ। 6 अंगुल = 1 पाद, 2 पाद = 1 वितस्ति(बलिश्त), 2 वितस्ति = 1 हाथ, 2 हाथ = 1 किष्क, 2 किष्क= 1दण्ड, 2 हजार धनुष = 1 कोस, 4 कोस = 1 योजन।

(ई) **गणिम प्रमाप-** जिसकी गणना की जाय उसे गणना कहते हैं। जैन परम्परा में गणनीय संख्या 194 अंक अर्थात् 1 पर 193 शून्य परिमाण है।

(उ) **प्रतिमान-** इसके द्वारा बहुमूल्य वस्तुओं को तौला जाता है। ये माप हैं- गुञ्जा(रत्ती), काकणी, निष्पाव, कर्ममाषक, मण्डलक व सुवर्ण। 5 रत्ती = 4 काकणीयां, 3 निष्पाक= 1 कर्ममाषक, 12 कर्ममाषक या 48 काकणियां = 1 मण्डलक, 16 कर्ममाषक या 64 काकणियों का एक कर्ममाषक होता है।

क्षेत्र परिमाण-

इनके दो प्रमुख भेद हैं- विभाग निष्पन्न व प्रदेशावगाह निष्पन्न। एक प्रदेशावगाह, दो प्रदेशावगाह, यावत् संख्यात प्रदेशावगाह, असंख्यात प्रदेशावगाह ये प्रदेश अवगाह निष्पन्न प्रमाप हैं। विभाग निष्पन्न प्रमापों में अंगुल(उत्सेधांगुल-नरकादि चतिर्गति जीवों की ऊँचाई के निर्धारण हेतु), क्षेत्र-प्रमाण प्रमाणांगुल(इससे द्वीप, समुद्र व भवनवासी आदि को मापा जाताहै) व आत्मांगुल- स्वयं की अंगुली, इससे घर आदि को मापा जाताहै।), वितस्ति, हाथ, कुक्षी, धनुष, गाउ, श्रेणी, प्रवर लोक व अलोक शामिल हैं। परमाणु, त्रसरेणु(पूर्व दिशा की वायु से प्रेरित होकर उड़ने वाले कण), रथरेणु (रथ की धूल से उड़ने वाले कण), बालाग्र(अग्रभाग), लीख, जूँ व जव क्रमशः एक दूसरे से 8 गुणा बड़े हैं। 8 बालाग्र = 1 लीख, 8 लीख = 1 जूँ तथा 8 जूँ = 1 जव(धान्य विशेष) होता है। 8जव = 1 अंगुल, 6अंगुल = 1 पाद, 2 पाद = 1बेंत (वितस्ति) = 1 हाथ होता है। 4 हाथ का = 1 धनुष, 2 हजार हाथ = 1 गाऊ(कोस) तथा 4 गाऊ = 1 योजन परिमाप होता है। योजन को असंख्यात से गुणा करने पर 1 श्रेणी प्राप्त होती है और उसको असंख्यात से गुणा करने पर एक प्रतर तथा एक प्रतर को असंख्यात से गुणा करने पर लोक परिमाण बनता है। लोक को अनन्त से गुणा करने पर अलोक बनता है। उत्तम पुरुष 108 अंगुल प्रमाण, मध्यम पुरुष 104 अंगुल प्रमाण तथा अधम पुरुष 96 अंगुल प्रमाण वाले होते हैं।

काल परिमाण-

सामान्यतः काल के कोई भेद नहीं हैं फिर भी लोक व्यवहार में समय अवलिका, घड़ी प्रहर, दिन, मास, वर्ष या भूत भविष्य व वर्तमान काल आदि भेद कहे हैं। काल के अत्यन्त सूक्ष्म और अविभाज्य भाग को समय कहते हैं। असंख्यात समय की एक अवलिका तथा असंख्यात अवलिका का एक श्वासोच्छवास होता है। एक स्वस्थ युवा मनुष्य के(स्वाभाविक तौर पर) एक उच्छवास व निश्वास के काल को प्राण कहते हैं। सात प्राणों का एक स्तोक होता है तथा सात स्तोक का एक लव। साड़े अड़तीस लव की एक नड़िका(नलिका), दो नलिका अर्थात् 77

लव का एक मुहूर्त तथा 30 मुहूर्त का एक अहोरात्र (दिवस) होता है। 15 दिवस-रात्रि का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, 3 ऋतुओं का एक अयन व जो अयन का एक वर्ष होता है। इनमें क्रमशः दस - दस से गुणा करने पर दस, सौ, हजार, दस हजार व लाख संख्या प्राप्त होती है। इसको 84 से गुणा करने पर 84 लाख वर्ष फिर इसको 84 लाख से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है उसे पूर्व कहा जाता है। इस प्रकार एक पूर्व का परिमाण सत्तर खरब छप्पन अरब(वर्ष) होता है। पूर्व को 84 से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल नयुतांग कहलाता है। फुनः इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए 84 से गुणा करते जाने पर जो परिमाण प्राप्त होता है उसे क्रमशः एक नयुत, नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, कमलांग, कमल, कुमुदांग, कुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, अट्टांग, अट्ट, अववांग, अवव, हुहूआंग, हुहूक, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत शीर्षप्रहेलिकांग तथा शीर्षप्रहेलिका कहते हैं। शीर्षप्रहेलिका का संख्या परिमाण 194 अंक है। इससे आगे की संख्या को उपमा से स्पष्ट किया जाता है- पल्योपम, सागरोपम आदि। इस गणना के फलस्वरूप जो संख्या मिलती है उसे संख्यात काल तथा इसके पश्चात् के काल को असंख्यात कहा जाता है। पल्योपम के तीन भेद किए गये हैं- 1. उद्धार (एक योजन लम्बा एक योजन चौड़ा तथा तीन योजन से अधिक परिधिवाला एक पल्य जिसमें बालाग्र ठसाठस भर दिये हों। इसके पुनः दो भेद हैं- बादर उद्धार पल्योपम अर्थात् एक समय में एक-एक बालाग्र निकालने पर जब वह खड्डा खाली हो जाय तथा दूसरा है सूक्ष्म उद्धार पल्योपम- एक-एक बाल के असंख्य खण्ड करें उसे पल्य में भरें, एक समय में एक-एक खण्ड निकालने में जो अवधड़ लगे वह सूक्ष्म उद्धार पल्योपम है।), 2. अद्धा- सौ-सौ वर्ष अवधि में एक-एक बाल निकालने में जो समय लगे वह बादर अद्धा काल(संख्यात क्रोड वर्ष) है। तथा सौ-सौ वर्ष में एक-एक सूक्ष्म बालाग्र को निकालने में जो समय लगे वह सूक्ष्म अद्धा पल्योपम(असंख्यात क्रोड वर्ष) है। उपर्युक्त पल्योपम को दस कोटाकोटि से गुणा करने पर उद्धार सागरोपम प्राप्त होता है। दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक अवसर्पिणी(क्रमशः घटते रहने वाला काल, वर्तमान समय अवसर्पिणी काल का पंचम आरा है) तथा उतने ही परिमाण का एक उत्सर्पिणी काल(उन्नति काल) होता है। चारों गतियों का क्रम में अष्ट कर्मों का आयुष्य काल इस प्रकार है- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय व अन्तराय की 30 कोटाकोटि सागरोपम, नाम व गोत्र की 20 कोटाकोटि सागरोपम, आयु कर्म की 33 सागरोपम तथा मोहनीय कर्म की 70 कोटाकोटि सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति जीवसमास की गाथा 130 में बताई गई है। एकेन्द्रिय जीव असंख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल एक ही काय(स्व काय) में रहते हैं। त्रस काय की उत्कृष्ट स्थिति दो सागर, मनुष्य - तिर्यञ्च- की अधिकतम 7-8 भव की स्वकाय स्थिति है। देव व नारकी स्वकाय मे पुनः जन्म नहीं लेते हैं। 3. क्षेत्र पल्योपम- आकाश क्षेत्र परिमापन हेतु इसका उपयोग किया जाता है। आकाश प्रदेश में जितने बालाग्र व बालाग्र-खण्ड भरे हुए हैं इनको खाली करने में लगने वाले समय को क्रमशः बादर व सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम कहा जाता

है। इस परिमाण में दस करोड़ का गुणा करने पर क्षेत्र सागरोपम प्रमाण आता है। इनको भी उद्धार, अद्धा व क्षेत्र के द्वारा मापा जाता है।

भाव परिमाण-

भवनः भावः। भाव शब्द की उत्पत्ति है। इसके दो भेद हैं- (अ) गुण निष्पन्न (जीव व अजीव गुण परिमाण) जीव गुण परिमाण तीन प्रकार(ज्ञान, दर्शन और चारित्र) का है तथा अजीव गुण परिमाण 5 प्रकार(वर्ण, गंध, रस, स्पर्श व संस्थान) का। (आ) नोगुण निष्पन्न जिसे संख्या परिणमन भी कहा जाता है। संख्या के दो भेद है- श्रुत और गणित संख्या। श्रुत जो कि अक्षर, पद, शलोक, संघात, बेढ़, वेष्टक, गाथा, पर्याय, पाद, अनुयोगद्वार अध्ययन, श्रुतस्कन्ध, अंग व उद्देशक आदि का प्रतिनिधित्व करता है उसके पुनः दो भेद किए गए हैं- कालिक(आचारांग आदि ग्रंथ) तथा उत्कालिक(प्रज्ञापना व जीवाभिगम आदि ग्रंथ)। गणितीय संख्या के संख्यात, असंख्यात व अनन्त ये तीन भेद हैं। जब जम्बू द्वीप(1 लाख योजन का आकार) जैसे आकार वाले 4 प्याले (अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका व महाशलाका)सरसों से भर दिए जाएं तो उन सरसों के दानों की संख्या को उत्कृष्ट संख्यात कहा जा सकता है। ज्ञन प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण होता है। अनुमान व उपमान के द्वारा इनका प्रमाण तय किया जाता है। दर्शन के 4 भेद (चक्षु, अचक्षु, अवधि व केवल) हैं इसका अनुभव किया जाता है। चारित्र के 5 भेद हैं - (सामायिक- महव्रतों को धारण करने से पूर्व यह चारित्र ग्रहण किया जाता है, क्षेदोपस्थापनीय- सातिचार व निरतिचार भेदरूप यह चारित्र दीक्षा पर्याय क्षेदकर पुनः महव्रतों की स्थापना करने में मददरूप होता है, परिहार विशुद्धि- यह तप विशेष की साधना से अर्जित आत्म-विशुद्धि है , सूक्ष्मसम्पराय- इसमें क्रोधादि कषायोंका क्षय करके साधक 10वें गुणस्थान में पहुँचता है, तथा यथाख्यात- अर्थात् अक्खाय पूर्ण कषाय रहित है(प्रतिपाती-उपशान्त मोह से पहुँचा साधक 11वें गुणस्थान को प्राप्त होता है व अप्रतिपाती-क्षय करके पहुँचा साधक 12वें गुणस्थआन को सुनिश्चित कर लेता है) ।

जीवद्रव्य परिमाण-

-मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त हैं क्षेत्र की अपेक्षा से अनन्त प्रदेश तुल्य हैं तथा काल की अपेक्षा से अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल तुल्य हैं।

-सास्वादन तथा मिश्र गुणस्थान में अधिकतम पल्योपम के असंख्यात भाग जितने होते हैं तथा जघन्य से इसकी संख्या एक है।

-अविरत सम्यग्दृष्टि व देशविरति गुणस्थान में न्यून व अधिकतम दोनों की अपेक्षा से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितने दोते हैं।

-प्रमत्तसंयत जीवों का न्यूनतम परिमाण दो हजार कोटि तथा अधिकतम 9 हजार कोटि का है।

-अप्रमत्तसंयत जीवों का परिमाण संख्यात कहा गया है।

-उपशमक श्रेणी में एक समय न्यूनतम एक व अधिकतम 54 जीव प्रवेश कर सकते हैं।

-क्षपक, क्षीणमोही जीवों की प्रवेश के समय संख्या 1 से 108 तक हो सकती है। क्षपणकाल में न्यूनतम 200 व अधिकतम 900 होती है। सयोग केवली न्यूनतम 2 करोड़ व अधिकतम नौ करोड़ होती है।

-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण क्षपक श्रेणी काल में एक समय में 108, दूसरे समय में फिर 108 जीव होते हैं।

-प्रथम नरक में असंख्यात श्रेणी(सात रज्जु लम्बी आकाश प्रदेश पंक्ति) परिमाण नारकी जीव हैं शेष 6 नरकों में प्रत्येक श्रेणी के असंख्यातवें भाग जितने मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।

-सामान्यतः एकेन्द्रिय से चार-इन्द्रिय त्रस जीव अनन्त मिथ्यादृष्टि हैं जबकि पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की संख्या अपेक्षाकृत कम है किन्तु देवों की संख्या से असंख्यात गुणा अधिक हैं।

3. क्षेत्र द्वार-

इसका सम्बन्ध आकाश द्रव्य से है जिसमें जीव पुद्गल आदि 6 द्रव्यों क निवास होता है। इसमेंरहने वाले जीवों का अवगाहन प्रमाण की चर्चा इस द्वार में की गई है। गुणस्थान परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्थिति इस प्रकार है- मिथ्यादृष्टि सर्वलोक में है शेष गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। केवली असंख्यातवें भाग में तथा समुद्घात की अपेक्षा सर्व लोक(लोकव्यापी) में होते हैं।

4. स्पर्शन द्वार-

इसमें आकाश अर्थात् लोकाकाश-अलोकाकाश के स्वरूप को समझाया गया है। इसका उर्ध्व लोक को मृदंग(ढोल), मध्य लोक झल्लरी(थाली जैसा वाद्य) तथा अधोलोक वेत्रासन(गाय की गर्दन) के समान है। अधोलोक में रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियां स्पर्शनीय हैं। मध्य लोक भी द्वीप-सागरों से स्पर्शनीय है। उर्ध्व लोक(ब्रह्मदेवलोक तक तीन रज्जू प्रमाण) मध्य लोक की चौड़ाई से 14 गुणा लम्बा है। 14 गुणस्थानवर्ती जीवों में से मिथ्यादृष्टि सर्व लोक का, सास्वादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत सम्यग्दृष्टि लोक के 14 भाग(रज्जू प्रमाण) क्षेत्र में क्रमशः 12, 8, 8 तथा 6 भाग परिमाम क्षेत्र को स्पर्श करते हैं। शेष प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों के जीव असंख्यातवें भाग का ही स्पर्श करते हैं जबकि केवली सर्व लोक का स्पर्श करते हैं।

5.काल द्वार-

काल के तीन प्रकार किए गए हैं- (अ) भवायुकाल- प्राणी की एक भव की आयु बताने वाला (आ) कायस्थितिकाल- जीव पुनः-पुनः उसी काया में जन्म लेता है वह कायस्थितिकाल है। (इ) गुणविभागकाल- प्रत्येक गुणस्थान में जीव जितने समय रहता है वह गुणविभागकाल कहलाता है।मिथ्यात्वगुणस्थान का काल सादिसन्त है। सास्वादन गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय तथा उत्कृष्टकाल 6 अवलिका है। मिश्र गुणस्थान का उत्कृष्ट व जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का काल 33 सागरोपम है देशविरति व सयोग केवली का कुछ काल कम पूर्व कोटि वर्ष का है।प्रमत्तसंयत गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहुर्त प्रमाण है। सम्पूर्ण क्षपक श्रेणी अन्तर्मुहुर्त प्रमाण है।

अयोग केवली का काल 5 ह्रस्वाक्षर परिमाण है। नारकियों का उत्कृष्ट भवायुकाल सात नरक पृथ्वियों में क्रमशः 1, 3, 7, 10, 17, 22 तथा 33 सागरोपम है। प्रथम नरक की उत्कृष्ट आयु ही दूसरे नरक की जघन्य आयु है यह क्रम सातवें की जघन्य आयु की गणना में अपनाया जाता है। प्रथम नरक की जघन्य आयु दस हजार वर्ष है जो भवनवासी व व्यन्तर देवों पर समान रूप से लागू होती है। 12 देवलोको में क्रमशः दो, दो से कुछ अधिक, सात, सात से कुछ अधिक,दस, चौदह, सतरह, अठारह फिर क्रमशः एक एक की वृद्धि के साथ सर्वार्थसिद्धि विमान तक 33 सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति पायी जाती है।

5. अन्तर द्वार-

जीव जिस गति को छोड़कर जाता है और पुनः उसी अवस्था को वापस प्राप्त नहीं हो जाता तब तक का काल अन्तर काल कहलाता है। एकेन्द्रिय जीवों का जन्म-मरण निरन्तर अर्थात् हर समय होता रहता है। मिथ्यात्व का परित्याग करके पुनः मिथ्यात्व को ग्रहण करने का अन्तर काल(उत्कृष्ट एक सौ बत्तीस सागरोपम है। क्षपक, क्षीणमोही तथा सयोग केवली जीवों के मिथ्यात्व व सम्यक्त्व का अन्तर काल नहीं होता। अयोग केवली का अन्तर काल उत्कृष्टतः 6 मास पर्यन्त होता है। सास्वादन गुणस्थान से वैक्रियमिश्र काययोग तक का अन्तर काल जघन्य से एक समय होता है। अजीव द्रव्य का अन्तर काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से अनन्त काल होता है। शेष द्रव्यों का अन्तर काल नहीं है।

6. भाव द्वार-

औपशमिक, क्षायिक, मिश्र(क्षयोपशमिक), औदयिक, पारिणामिक तथा सन्निपातिक ये जीवों की 6 प्रकार की भाव अवस्थाएं बतलाई गई हैं। अजीवों में औदयिक व पारिणामिक दो प्रकार की अवस्थाएं पायी जाती हैं। अष्ट करमों में इन भावों की स्थिति का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है- मोहनीय कर्म में औपशमिक, क्षायिक, मिश्र(क्षयोपशमिक) व औदयिक ये 4 भाव होते हैं। शेष घातिया कर्मों में उपर्युक्त में से औपशमिक के अतिरिक्त बाकी के तीन भाव पाये जाते है। अघातिया कर्मों के मात्र औदयिक भाव ही पाया जाता है।

7. अल्पबहुत्व द्वार-

किस प्रकार के जीवों की संख्या या प्रमाण अन्य की तुलना कम या अधिक है इसका वर्णन इस द्वार में किया गया है। गति क्रम में देखें तो चारों गतियों में मनुष्यों का प्रमाण सबसे कम है, नारकी जीवों प्रमाण मनुष्यों से अनन्त गुणा है इनसे असंख्य गिणा देवता हैं। देवों से अनन्तगुणा सिद्ध तता सिद्धों से अनन्त गुणा तिर्यञ्च- हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा से उपशामक सबसे कम होते हैं, उनसे अधिक क्षपक, उनसे अधिक जिन, उनसे अधिक अप्रमत्तसंयत तथा उनसे संख्यात गुणा अधिक प्रमत्तसंयत होते हैं। इनसे आगे एक-दूसरे से अधिकता के प्रमाण में क्रमशः गुणस्थानक स्थिति है- देशविरत, सास्वादनी, मिश्र, अविरत सम्यकत्वी, सिद्ध तथा मिथ्यात्वी। गुणस्थानवर्ती जीवों में सबसे कम अयोग केवली होते हैं। गति के अलावा मार्गणा व लेश्यादि क्रम में इस द्वार के द्वारा जीव परिमाण को जाना जा सकता है।

अध्याय-5

गुणस्थान एवं कर्म सिद्धान्त

गुणस्थान एवं कर्म प्रकृतियां व सिद्धान्त—

गुणस्थान सिद्धान्त वास्तव में कर्म बंधन से मुक्ति की विकास यात्रा है। इस प्रकार इन दोनों में नियत सहसम्बन्ध अवश्य है। कसायपाहुड़ और षट्खण्डागम (महाकर्म प्रकृतिशास्त्र) मूलतः कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थ हैं। यद्यपि कषायपाहुड़ में भले ही चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है फिर भी सास्वादन आदि कुछ गुणस्थानों को छोड़कर शेष के नामों का निर्देश इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। इसी प्रकार षट्खण्डागम में भी भले ही गुणस्थान शब्द का प्रयोग न हुआ हो किन्तु जीव समास शब्द के द्वारा इन चौदह स्थितियों को स्पष्ट किया गया है। दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम, गौम्मटसार आदि में तथा श्वेताम्बर परम्परा के पाँच कर्म ग्रन्थों में से "कर्मस्तव" में इन चौदह गुणस्थानों के संन्दर्भ में कर्मबंध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता आदि का ही विचार किया गया है। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि जिस प्रकार लौह पिण्ड में अग्नि तत्त्व समाविष्ट हो जाता है उसी प्रकार कर्म वर्गणाएं पुदगल प्रदेशों के साथ (बंध) समाविष्ट हो जाती हैं।

कर्म का सत्ता काल- बंध के पश्चात् अपने फल विपाक अर्थात् उदय के पूर्व की अवस्था को कर्म का सत्ता काल कहा जाता है।

उदय- जब कर्म वर्गणाएं पुद्गगल में अपने सत्ता काल के समाप्त होने पर अपना फल प्रदान करती हैं तो उसे कर्मोदय कहते हैं।

उदीरणा- कर्मों का सत्ता काल समाप्त होने से पूर्व ही उन्हें उदय में लाकर उनके फलों को भोग लेना उदीरणा है इसे सविपाक निर्जरा या पुरुषार्थ कहा जाता है। उदीरणा काल लब्धि पूर्ण होने पर होती है जिसे नियति कहा जाता है।

क्षय- उदय और उदीरणा के पश्चात् जो कर्म निर्जरित हो जाते हैं वह क्षय है।

उपशम- जब जीव अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ से उदय में आने वाले कर्म को अपना विपाक या परिणाम देने से रोक लेता है तो यह उपशम है। उपशम अर्थात् उस कर्म (मोह) की नजर से बचकर आगे बढ़ना है।

इन उपर्युक्त घटकों के आधार पर ही गुणस्थान व कर्म के परस्पर सम्बन्ध को समझा जा सकता है।

बंध योग्य कर्म एवं उनकी प्रकृतियां- (120) तत्त्वार्थ सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन है-

1. ज्ञानावरण(5)- मति आदि पाँच ज्ञानों के आवरण।

2. दर्शनावरण(9)- चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनावरण तथा निद्रा(तीव्र निद्रा), प्रचला (खड़े-खड़े सो जाना), प्रचला- प्रचला(चलते- चलते सो जाना) और स्त्यानगृद्धि(जागृत अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट होना)।

3. वेदनीय(2)- साता वेदनीय और असाता वेदनीय।

4. मोहनीय(28)- दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति(1. मिथ्यात्व मोहनीय- जिसके उदय से तत्वों के यथार्थरूप में रुचि न हो। 2. मिश्र मोहनीय- जिस कर्म के उदय काल में तात्विक रुचि-अरुचि की स्थिति डवाँडोल रहती है। 3. सम्यक्त्व मोहनीय- जिसका उदय तात्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपसमिक व क्षायिक भाव वाली तात्विक रुचि को प्रतिबन्धित करता हो।), चारित्र मोहनीय कर्म की 25 प्रकृतियां(अ- 16 कषाय- अनन्तानुबन्धी अर्थात तीव्रतम, अप्रत्याख्यान अर्थात तीव्र जो महा विरति को प्रतिबन्धित करे, प्रत्याख्यान अर्थात् कमतीव्र जो देशविरति की जगह मात्र महा विरति को ही प्रतिबन्धित करे, संज्वलन अर्थात अतिअल्प तीव्रता जहाँ प्रतिबन्ध तो नहीं होता किन्तु मालिन्य अवश्य रहता हो एंसे क्रोध मान माया लोभादि कषाय चतुष्क तथा 9 कषाय- हास्य, रति प्रीति), अरति, भय, शोक, जुगुप्सा (घृणा), स्त्रीवेद (स्त्रैण भावविकार), पुरुषवेद (पौरुष भावविकार) तथा नपुंसकवेद (नपुंसक भावविकार) व मोहनीय आदि।

5. आयु(4)- देव, मनुष्य,त्रियञ्च और नरकायु।

6. नाम (42)- (अ) 14 पिण्ड प्रकृतियां- देवादि चार गतियां प्राप्त कराने वाला कर्म, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक का अनुभव कराने वाला कर्म, शरीरगत आंगोपांग का अनुभव, गृहीत और औदारिक पुद्‌गल तथा बुद्ध पुद्‌गलों के साथ विविध आकारों वाला कर्म संघात, अस्थिबन्ध रचनारूप संहनन तथा विविध आकृतियों का निमित्त कर्म संस्थान, पाँच वर्ण दो गन्ध, पाँच रस तथा आठ स्पर्श वाला, विग्रह द्‌वारा आकाशगामी, प्रशस्त और अप्रशस्त गमन का कारक कर्म विहायोग गति। **(आ) त्रस दशक व स्थावर दशक। (इ) 8 प्रत्येक प्रकृतियां-** गुरु-लघु शरीर, जिव्हा आदि अवयव,दर्शन वाणी की शक्ति, श्वास लेने का नियामक कर्म, उष्ण – शीत का नयामक कर्म आदि शरीर के अंगों को यथोचित व्यवस्थित करने वाले कर्म हैं। धर्म तीर्थ प्रवर्तन की शक्ति देने वाला कर्म तीर्थंकर है।

7. गोत्र कर्म (2) -प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाला उच्च गोत्र तथा इसके विपरीत निम्न गोत्र।

8. अन्तराय(5) - दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तराय।

प्रत्येक गुणस्थान की प्रारम्भिक व अन्तिम अवस्था में बंध, सत्ता, उदय और उदीरणा के योग्य कर्म प्रकृतियों की संख्या में कभी-कभी अंतर आ जाता है। विकास यात्रा के दो गुणस्थानों के बीच एक **संक्रमण** की भी अवस्था होती है जो पूर्ववर्ती गुणस्थान की समाप्ति और उत्तरावर्ती गुणस्थान

के प्रारम्भ की सूचक है। सातवें गुणस्थान के पश्चात् जब आत्मा उपशम या क्षय विधि को अपनाकर आध्यात्मिक विकास करता है तब भी गुणस्थान की श्रेणी विशेष सत्ता आदि के अनुसार कर्म प्रकृतियों की संख्या में अंतर आ जाता है।

गुणस्थानों के क्रम में कर्म प्रकृतियों की स्थिति-

1- मिथ्यात्व गुणस्थान एवं कर्म प्रकृतियां—

इस गुणस्थान की कुल बंध योग- कर्म प्रकृतियां 120 हैं। फिर भी इसमें तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक इन तीन को छोड़कर 117 कर्म प्रकृतियों का बंध सम्भव है। उदय एवं उदीरणा की अपेक्षा से इनकी संख्या 122 (120 + मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह) है। इस गुणस्थान में मिश्र मोह, सम्यक्त्व मोह, आहारकद्विक और तीर्थंकर नामकर्म(5) का उदय एवं उदीरणा संम्भव नहीं है। इसलिए 117 कर्म प्रकृतियों की ही उदय एवं उदीरणा संभव है।

इस गुणस्थान में 48 कर्मों की सत्ता मानी गई है। उस वृद्धि का कारण है- बंध की अपेक्षा से नामकर्म की 67 कर्म प्रकृतियां हैं किन्तु सत्ता की अपेक्षा से वे 93 हैं (26 अधिक) इसी प्रकार मोहनीय कर्म की दो कर्म प्रकृतियां - मिश्र मोह और मिथ्यात्वमोह बढ़ जाती हैं (120+ 28= 148) सामान्यतः इस गुणस्थान में किसी कर्म प्रकृति का पूर्ण क्षय या उपशम नहीं होता फिर भी जो जीव सम्यक्त्व गुणस्थान में आरोहण करते हैं वे इस गुणस्थान के उत्तरार्द्ध चरण में सात कर्म प्रकृतियों(अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह) का क्षय या उपशम करते हैं।

संशयित, अभिग्रहीत और अनभिग्रहीत इस प्रकार तीन भेद हैं। (गो.जी.गा.17- के अनुसार) मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला कहलाता है जिस प्रकार पित्त ज्वर से पीड़ित जीव को मीठा रस अच्छा मालूम नहीं होता उसी प्रकार ऐसे जीव को यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता। मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं- एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान। (गो.जी.गा.ध. 1/ 1/ 9/ पृ.162गा.106)। जितने वचन मार्ग होते हैं उतने ही नय के भेद होते हैं जितने नयवाद हैं उतने पर-समय (अनेकान्त-बाह्यमत) होते हैं।

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव पर समय।। (ध. 1/ 1/ 9/ गा.105)

इसलिए मिथ्यात्व के पाँच ही भेद हैं ऐसा कोई नियम नहीं है। मिथ्यात्व के पाँच प्रकार कहना उपलक्षण मात्र है। मिथ्यात्व के दो अन्य प्रकार भी कहे जाते हैं- व्यक्त एवं अव्यक्त मिथ्यात्व।

व्यक्त मिथ्यात्व- व्यक्त मिथ्यात्व दस प्रकार के होते हैं-

"दसविहे मिच्छत्ते पन्नते, तम जहा अधम्मे धम्म सव्वा, धम्मे अधम्म सव्वा, उम्मग्गे मग्ग सव्वा, मग्गेउम्मशसव्वा, अजीवेसु जीव सव्वा, जीवेसु अजीव सव्वा, आसाहुसु साहुसव्वा, साहुसु असाहु सव्वा, अमुत्तेसु मुत्तसव्वा, मुत्तेसु अमुत्तसव्वा" - ठाणागंसूत्र

अर्थात् अधर्म में धर्म संज्ञा, धर्म में अधर्म संज्ञा, अमार्ग में मार्ग संज्ञा, मार्ग में अमार्ग संज्ञा, अजीव में जीव संज्ञा, जीव में अजीव संज्ञा, असाधु में साधु संज्ञा, साधु में असाधु संज्ञा, अयुक्त में युक्त संज्ञा तथा युक्त में अयुक्त संज्ञा होती है।

मोक्षशास्त्र में मिथ्यात्व के पाँच प्रकार बताये हैं- अभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, अभिनिवेशक, सांशायिक और अनाभोगिक में से प्रथम 4 व्यक्त मिथ्यात्व के स्वरूप हैं।

अव्यक्त मिथ्यात्व- अव्यक्त मिथ्यात्व से संदर्भित विधान है कि अव्यवहार राशि वाले जीव सदा काल मिथ्यात्व मूर्छा में रहते हैं। श्रीमद हरिभद्रसूरी जी ने "योगदृष्टि समुच्चय" में 8 योगदृष्टिओं का वर्णन किया है जिसमें से प्रथम 4 में मिथ्यात्व गुणस्थान घट सकता है। यहाँ मोहनीय कर्म के दो भेद कहे गये हैं - (अ) दर्शन मोहनीय (आ) चारित्र मोहनीय

दर्शन मोहनीय के ये तीन - समकित मोहनीय, मिश्रमोहनीय व मिथ्यात्व मोहनीय भेद कहे गये हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान के उत्तरार्द्ध में सम्यग्दृष्टि जीव को संसार से मुक्त होने की तीव्र इच्छा होती है सांसारिक सुख बंधन रूप लगते हैं किन्तु अप्रत्याख्यानीय कषायों के तीव्र उदय के चलते वह ऐसा कर पाने में असमर्थ है। व्रत न ले सकने का उसे तीव्र दुख रहता है। काया से पाप प्रवृत्ति होने पर उसे हृदय में तीव्र डंख रहता है। अनुत्तर विमान की आयु 33 सागरोपम है उसमें आगामी भव की मनुष्य आयु जोड़ देने पर इस गुणस्थान की उत्कृष्ट आयु आ जाती है।

2— सास्वादन गुणस्थान में कर्म सिद्धान्त-

जब जीव चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम गुणस्थान तक पतित होकर गिरता है तो उसके मध्य का संक्रमण काल दूसरा तीसरा गुणस्थान है। इस गुणस्थान में 16 कर्म प्रकृतियां मिथ्यात्व मोह के उदय से ही बँधती हैं- (नरक त्रिक-नरकायु, नरक गति, नरकानुपूर्वी, जाति चतुष्क, स्थावर चतुष्क,- स्थावर सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण नामकर्म, हुण्डक संस्थान, आतप नामकर्म, सेवार्त संहनन, नपुसंकवेद और मिथ्यात्व मोह) का बंध नही होता अतः 101 कर्म प्रकृतियों का ही बंध होता है। यहाँ तीर्थंकर नामकर्म को छोड़कर शेष 147 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसमें 111 कर्म प्रकृतियों (मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह, सम्यक्त्व मोह, तीर्थंकर नामकर्म, आहारकद्विक, सूक्ष्म शरीर, अपर्याप्त अवस्था, साधारण शरीर, आतप नामकर्म तथा नरकानुपूर्वी इन 11 कर्म प्रकृतियों को छोड़कर) के उदय की संम्भावना रहती है।

3- मिश्र गुणस्थान एवं कर्म सिद्धांत—

इस गुणस्थान में सास्वादन गुणस्थान की 101 कर्म प्रकृतियों में से 74 कर्म प्रकृतियों(तिर्यग्चरित्र, स्थानवृद्धित्रिक – स्त्यानग्रद्धि, प्रचला और प्रचला- प्रचला, दुर्भग नाम कर्म, दुस्वर नामकर्म, अनादेय नाम कर्म, अनन्तानुबंन्धी कषाय चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, महायम संहनन चतुष्क, नीच गोत्र, उधोतन नामकर्म, अशुभविहायोगति तथा स्त्री वेद -27) का ही बंध सम्भव है। सत्ता की अपेक्षा से तीर्थंकर नामकर्म को छोड़कर 147 कर्म प्रकृतियां हैं तथा उदय योग्य 122 कर्म प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी कषाय , स्थावर नामकर्म, एकेन्द्रिय नाम कर्म, तीन विकलेन्द्रिय नामकर्म का छेद तथा तिर्यञ्च, मनुष्य और देवानुपूर्वी का अनुदय एवं मिश्र मोह का उदय होने से इन 111 कर्म प्रकृतियों के उदय की संभावना रहती है।

श्रद्धा रुचि प्रत्यय इतियावत। समीचीन च मिथ्या च दृष्टिर्थस्यासी सम्य मिथ्यादृष्टिः।

(धवला.1- 1-11)

दृष्टि, रुचि, श्रद्धा और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं जिस जीव के समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकार की दृष्टि होती है उसको सम्यगमिथ्थादृष्टि कहते हैं।

सम्ममिच्छा दयेण य जंततर सव्वधादिकज्जेण।

ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदिपरिणामो।। (गो. जी. गा. 21)

अपने प्रतिपक्षी आत्मा के गुणों का सर्वथा घात करने का कार्य दूसरी सर्वघाती प्रकृतियों से सर्वथा विलक्षण जाति का है। इसी प्रकार तत्त्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में भी इन गुणस्थानवर्ती जीवों की मिश्रित श्रद्धा होती है। जैसे- किसी पुरुष में किसी के प्रति मित्रता और किसी के प्रति शत्रुता, इसी प्रकार तत्त्व श्रद्धान और अतत्त्व श्रद्धान एक साथ जीव में कदाचित सम्भव हैं।

सो संजम ण णिश्रदि देसंजम वा ण बंधदेआउं।

सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णिय मेण।। (गो. जी. गा.23)

4. अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त-

जिनकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते है और संयम रहित सम्यग्दृष्टि को असयंत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित वचनों का श्रद्धान करता है उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

जो इदियेसु विरादो णो जीवे थावरे तसे वापि।

जो सहहदि जिणुत्तं , सम्माइट्ठी अविरादो सो।।

(ध. 1/ 1/ 12/ गा. 111/ 173/ गो. जी. 129/ 58/ पंच संग्रह प्रामृत गा. 11)

अविरत सम्यग्दृष्टि के बाह्य चिन्ह- वह सम्यग्दृष्टि जीव पुत्र, स्त्री आदि में गर्व नहीं करता, (असम्यक्त्व नहीं होता) उपशम भाव को भाता है और पंचेन्द्रियजन्य विषय भोगों में तृष्णा नहीं रखता। उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर रहता है। उत्तम साधुओं की विनय करता है तथा साधर्मी जनों से अनुराग रखता है। आत्मशुद्धि की साधना का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है, प. श्री दौलतराम जी ने छहढाला में कहा भी है- **मोक्ष महल की प्रथम सीड़ी या बिन ज्ञान चरित्रा। सम्यकता न लहे सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।।छ.ढा.-3।।** इस प्रकार सम्यक्त्वरूपी श्रेष्ठ धन की उपलब्धि में परम उपलब्धि वीर पुरुषार्थी जीव ही सफल होते हैं।

इस गुणस्थान में 77 कर्म प्रकृतियों का ही बंध सम्भव है(44 मिश्र गुणस्थान की कर्मप्रकृतियां + तीर्थंकर नामकर्म, मनुष्य एवं देव आयु कर्म) इस अवस्था में तीर्थंकर नामकर्म के बंध की सम्भावना बनी रहती है। चतुर्थ गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक सभी 148 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्भव सत्ता की अपेक्षा से सामान्य जीव जिसने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया है को 148 कर्म प्रकृतियों की सम्भव सत्ता मानी जाती है किन्तु चरम शरीरी आत्मा क्षपक श्रेणी का आरोहण कर उसी भव से मोक्ष जाने वाली है, फिर भी जिन्होंने आरोहण आरम्भ नहीं किया है उसमें 145 कर्म प्रकृतियों की (नरकायु, तिर्यञ्च

आयु और देवायु) विच्छेद सत्ता रहती है। जिस आत्मा ने इस गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व तो प्राप्त कर लिया है किन्तु अभी उनका भव भ्रमण शेष है उसमें अनन्तानुबंन्धी कषाय चतुष्क और दर्शन मोहत्रिक के विच्छेद हो जाने से 141 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है जबकि चरम शरीरी के इसके अलावा मनुष्यायु शेष आयुत्रिक(10) का विच्छेद हो जाने से 138 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस गुणस्थान में 104 कर्म प्रकृतियों का उदय संभव है (मिश्र गुणस्थान की 100 में से एक मिश्र मोहनीय कर्म + सम्यक्त्व मोहनीय, देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्व, तिर्याञ्चानुपूर्वी व नरकानुपूर्वी (5)। उदय की मान्य 122 कर्म प्रकृतियों में से यहाँ 18 कर्म प्रकृतियों- (अनन्तनुबन्धी कषाय चतुष्क तथा मोहत्रिक में से मिथ्यात्व मोह और मिश्र मोह(6) इसके अलावा नाम कर्म की 12 कर्म प्रकृतियों – सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप, स्थावर, एकेन्दिय जाति द्वि इन्द्रिय जाति, त्रिन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग और अर्द्धनारांच नामकर्म) का उदय नहीं होता। इस गुणस्थान में उदय एवं उदीरण योग्य कर्म प्रकृतियों की संख्या समान होती है। इस गुणस्थान में सम्यक्त्व के भेद इस प्रकार किए गये हैं —

अ- **औपशमिक सम्यक्त्व**- इस का जघन्य व उत्कृष्ट काल एक अन्तर्मुहूर्त का है। इसमें सम्यक्त्व का स्पर्श अधिकतम पांच बार होता है। यह आत्मा निश्चय से मोक्ष जाने वाली होती है।

आ- **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-** यह चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। इसकी जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट छह सागरोपम है। इसकी प्राप्ति जीव को सांसारिक जीवन में अनेक बार होती है।

इ- **क्षायिक सम्यक्त्व-** मिथ्यात्वादि मोहनीय की सात कर्म प्रकृतियों को मूल से छेदकर आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। यदि पूर्व से आयुष्य बंध नहीं होता तो वह आत्मा उसी भव में क्षपक श्रेणी चढ़कर मोक्ष जाती है। क्षायिक सम्यक्त्वधारी अधिकतम चार या पांच भव धारण करता है। सम्यक्त्व की यह स्थिति सादि अनन्त है अर्थात् यह एक बार प्राप्त होने के बाद आत्मा से कभी अलग नहीं होता। यह चौथे से चौदहवे गुणस्थान तक पाया जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व हेतु वज्र वृषभ नाराचं संघनन अनिवार्य है।

ई- **वेदक सम्यक्त्व-** क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान आत्मा जब मोहनीय कर्म बल के अंतिम पुदगल का भेदन करके जिस परिणाम को प्राप्त होती है वह वेदक सम्यक्त्व है। इसके तुरंत बाद क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

उ- **सास्वादन सम्यक्त्व-** उपशम सम्कत्व से च्युत आत्मा जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसके जो परिणाम होते हैं उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहा जाता है। (दूसरी गुणस्थान स्थिति)

ऊ-**मिश्र गुणस्थान**- मिश्र मोहनीय कर्म दलिकों का भेदन करने वाले को मिश्र सम्यक्त्व होता है। इसका काल अन्तर्मुहुर्त प्रमाण है।

5. देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान और कर्म सिद्धान्त-

यह सम्यक्त्व गुण युक्त है, -श्रावक के व्रत या अणुव्रत का पालन से सम्बद्ध है। इस गुणस्थान के अधिकारी मात्र मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही हैं। इसकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्व कोटि वर्ष है।

इस गुणस्थान में बंध योग्य कर्म प्रकृतियां 67 हैं। इसमें ज्ञानावरण की (5), मोहनीय कर्म की (26), कर्म प्रकृतियों में से(15) 11 मोहनीय कर्म की कर्म प्रकृतियां जिनका बंध नहीं होता– अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व मोह, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, आयु चतुष्क में केवल 2 देवायु, नामकर्म की 67 में से 32- देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वैक्रिय आंगोपांग, वज्रवृषभनारांच संहनन, सम चतुरस्र संस्थान, हुंडक संस्थान, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, देवानुपूर्वी, शुभविहायोगति, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, उद्योत, अगुरु, तीर्थंकर, निर्माण, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, एवं यश कीर्ति नामकर्म प्रकृतियों का ही बंध सम्भव है। इसके अलावा गोत्र कर्म मात्र द्रव्य गोत्र(1) तथा अंतराय कर्म की (5) प्रकृतियों का बंध सम्भव है।

इस गुणस्थान में 148 कर्म प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है। अचरमशरीरी क्षायिक सम्यक्त्व वाले जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क व दर्शनत्रिक का क्षय हो जाने से 141 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है जबकि चरम शरीरी के मनुष्यायु को छोड़ अन्य तीन आयु न रहने से 138 कर्मों की सत्ता रहती है।

उदीरणा की दृष्टि से देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में 87 कर्म प्रकृतियां मानी गई हैं- ज्ञानावरणी(5) दर्शनावरणी(8), वेदनीय(2), मोहनीय कर्म की उदय योग्य(28), कर्म प्रकृतियों में से (18), अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क,अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व मोह और मिश्र मोह इन दस का उदय नहीं होता। आयु कर्म में से (2) मनुष्य और देवायु, नाम कर्म की 67 में से 23 का उदय नहीं होता। मात्र 44 नाम कर्म की प्रकृतियों का उदय होता है। इस प्रकार गुणस्थान में कुल 87 कर्म प्रकृतियों का उदय होता है। प्रमत्त संयत गुणस्थान तक उदय एवं उदीरणा की कर्म प्रकृतियां समान होती हैं।

6- *प्रमत्त संयत (सर्व विरत)* गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त-

मन, वचन, काय, करण, करावण व अनुमोदन से पाप वृत्ति का सवर्ण त्याग कर इस गुणस्थान में साधक अवस्थित होता है। संयत मुनि इसका पालन करते हैं। प्रमाद युक्त होने से वे संयत कहलाते हैं। ये गुणस्थानवर्ती अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान कषाय चतुष्क से रहित होते हैं। इस गुणस्थान मे सभी चौदह पूर्वधर महर्षि आहारक लब्धि का उपयोग करते हैं जो एक प्रकार का प्रमाद ही है। इसकी जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति कुछ न्यून कोटि वर्ष है।

यहाँ देशविरत गुणस्थान में स्वीकृत 67 कर्म प्रकृतियों में से बंध की दृष्टि से प्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क कम होकर मात्र 63 रह जाती हैं। सत्ता की अपेक्षा से पूर्व गुणस्थान की भाँति 148 कर्म

प्रकृतियों की सत्ता संभव है तथापि चरम शरीरी के देव, नरक व त्रियञ्च आयु का बंध न होने की अपेक्षा से सत्ता 145 कर्म प्रकृतियों की हो जाती है। जबकि अचरम शरीरी क्षायिक श्रेणी वाले जीव में अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क एवं दर्शनत्रिक के क्षय होने से यहाँ 141 कर्म प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि चरम शरीरी जीव क्षायिक सम्यक्त्व का धारक होकर क्षपक श्रेणी से आरोहण करता है तो 138 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रह जाती है (अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क, दर्शनत्रिक तथा मनुष्य को छोड़कर आयुत्रिक(10) की सत्ता नहीं होती)। उदय एवं उदीरणा की अपेक्षा से इस गुणस्थान में 81 कर्म प्रकृतियों का ही उदय सम्भव है। मोहनीय कर्म की 28 में से 14, नामकर्म की उदय योग्य 67 प्रकृतियों में से 44 , ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय-9, वेदनीय-2, आयुष्य की-2(मनुष्यायु), गोत्र की-2(उच्च गोत्र) तथा अन्तराय की-5 हैं।

7- अप्रमत्तसंयत गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त—

प्रमाद का त्याग करते हुए साधना – अध्यावसाय को आगे बढ़ाना जिससे आगम विशुद्धि में वृद्धि होती है। इस गुणस्थान में संज्वलन कषाय भी मंद पड़ जाती है। इसकी जघन्यावधि एक समय व उत्कृष्ट अवधि एक अन्तर्मुहूर्त की है। इसके बाद आत्मा उपशम या क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है।

न प्रमत्त संयतः अप्रमत्तसंयतः पंचदश प्रमाद रहिताः संयता इति यावत। (मू. 33)

जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

संजलण णोकसाया णुदओ मंदो वज्र तदा होंदि।
अप्रमत्त गुणो तेजोय अप्रमत्त संवदो होदि।।ध. 1/ 1/ 15 पृ. 178।।

जब संज्वलन और नौ कषाय का मंद उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है अतः इस गुणस्थान को अप्रमत्त संयत कहते हैं इसके दो भेद हैं।

(क) **स्वस्थानाप्रमत्त-** जिसके सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं और जो समग्र महाव्रती, अठ्ठाईस मूलगुणों तथा शीलों से युक्त हैं।

(ख) **सातिशय अप्रमत्त-** भावों की अत्यन्त विशुद्धि हो जाने से वह अप्रमत्त साधक छठे गुणस्थान में न जाकर अस्खलित गति से उपशम वा क्षपक श्रेणीं पर आरूण होकर ऊपर चढ़ता ही जाता है उसे सातिशय अप्रमत्त कहते हैं।

श्रेणी विभाग- सातवें गुणस्थान से आगे आत्म विकास की दो श्रेणियां हो जाती हैं। एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी।

सातवें गुणस्थान में छठे गुणस्थान के 63 में से प्रारम्भ में 59 या 58(चरमशरीरी के किसी भी आयु का बंध नहीं होता) कर्मप्रकृतियों का ही बंध सम्भव है। ज्ञानावरणीय-5, दर्शनावरणीय में निद्रादिक को छोड़कर शेष-6, वेदनीय में- सातावेदनीय-1, मोहनीय में-9 कषाय, आयुष्य में देवायु-2, गोत्र में उच्चगोत्र-1, अन्तराय-5 तथा नामकर्म की- 31 = 52 कर्म प्रकृतियों का ही बंध सम्भव है। सत्ता की अपेक्षा से यहाँ उपशम श्रेणी वाले जीव में 141, तीर्थंकर व्यतिरिक्त क्षपक श्रेणीं वाले जीव में मोहात्रिक क्षय होने से 145 तथा अन्त में मोहात्रिक, गतित्रिक, आयुत्रिक तथा तीर्थंकर नामकर्म इन दस का विच्छेद होने से 138

कर्मों की सत्ता रहती है। उदय एवं उदीरणा की 81 कर्म प्रकृतियों में से निद्रात्रिक एवं आहारद्विक(5) कम होने से 76 का ही उदय सम्भव है जबकि उदीरणा मात्र 73 की ही सम्भव है(वेदनीयद्विक और आयुष्य कर्म की नहीं =3)

8- अपूर्वकरण गुणस्थान-(निवृत्तिकरण) व कर्म सिद्धान्त --

कर्म रहितता (कषाय रहित) के अपूर्व अनुभव होते हैं।- इस गुणस्थान में रहते हुए क्षपक श्रेणीं पर चढ़ने वाली आत्मा संज्वलन कषाय का धीर-धीरे क्षय करती है। जबकि उपशम श्रेणीं पर चढ़ने वाली आत्मा इसका उपशम करती है। यहाँ आत्मा स्थिति घात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थिति रूप 5 कार्य करती है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्र्मुहूर्त है। जबकि अध्यवसाय का स्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेशतुल्य है।

अंतो मुहुत्तकालं गमिउण अघाववत्त कारणं।

पडि समय सुज्झतो अपुव्वकरणं समलिप्पई।। 50।। गो.जी.

अधःप्रवत्तकरण के अन्तर्मुहूर्त काल को व्यतीत करके सातिशय अप्रमत्त साधक बन प्रति समय विशुद्ध होता हुआ जब वह अपूर्व परिणामों को प्राप्त करता है तब वह अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहलाता है। आठवें गुणस्थान में प्रवेश करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं उपशमक और क्षपक। जो विकासगामी आत्मा मोह के संस्कारों को दबा करके आगे बढ़ता है और अन्त में सर्व मोहनीय कर्मप्रकृति का उपशम कर देता है। इसके विपरीत जो मोहनीय कर्म के संस्कारों को जड़ मूल से उखाड़ते जाते हैं वे क्षपक कहलाते हैं।

इस गुणस्थान के प्रारम्भ में 58 का, मध्य में 56 का और अन्त में 26 ही बंधन योग्य कर्मप्रकृतियां रह जाती हैं। इससे बड़ी कमी नामकर्म की होती है- 31 में से मात्र एक कर्म प्रकृति ही शेष बचती है। ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की-4, (पाँच निद्राओं को छोड़कर), वेदनीय की-1, 9मात्र सातावेदनीय), मोहनीय की-9 कषाय, नामकर्म की-2, गोत्र की-1, और अन्तराय की-5। सत्ता की अपेक्षा से प्रारम्भ में अधिकतम 48 तथा न्यूनतम141, उपशम श्रेणीं वालों को139 एवं क्षपक श्रेणी वाले साधकों को-138 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उदय एवं उदीरणा की अपेक्षा से पूर्ववर्ती 76 में सम्यक्त्व मोह और अन्त में तीन संहनन कम होने से उदय योग्य 72 तथा उदीरणा योग्य69 कर्मप्रकृतियां रह जाती हैं। इस गुणस्थान में बंध की अपेक्षा से 56 उदय की अपेक्षा से 76 तथा सत्ता की अपेक्षा से 138 कर्म प्रकृतियां रहती हैं।

9. अनिबृत्तिकरण बादर सम्पराय गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त -

इस गुणस्थान में उदय होने वाली कषाय का क्षय या उपशम जीव करता है।- इसकी भी उत्कृष्ट व जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। धवला की इस गाथा में कहा गया है कि

समान समयावस्थित- जीव परिणामानां निर्मेदेन वत्तिः निवृत्तिः।।ध. 1/ 1/ 17/ 183।।

समान समावर्ती जीवों के परिणामों की भेद रहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं। नोवें गुणस्थान में हुए भावोत्कर्ष की निर्मलता अतिशीघ्र हो जाती है इस गुणस्थान में विचारों की चंचलता नष्ट होकर उनकी सर्वत्र गामिनी- वृत्ति केन्द्रित और समरूप हो जाती है इस अवस्था में

साधक की सूक्ष्मतर और अव्यक्त काम सम्बन्धी वासना जिसे वेद कहते हैं, समूल नष्ट हो जाती है।

नवमें गुणस्थान के प्रारम्भ में अधिकतम 22 और अतं में मात्र 18 कर्म प्रकृतियों के बंध की सम्भावना रहती है। ज्ञानावरणीय-5, दर्शनावरणीय-4, वेदनीय की- 1, (सातावेदनीय) मोहनीय की-1, (सूक्ष्म लोभ), नामकर्म की-2, गोत्रकर्म की-1, तथा अन्तराय की-5,।सत्ता की अपेक्षा से आरम्भ में 138 तथा अतं में 103 कर्मप्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। उदय और उदीरणा की अपेक्षा से पूर्व गुणस्थान की उदय योग्य 72 कर्म प्रकृतियों में से हास्याष्टक के कम होने से 66 तथा उदीरणा की अपेक्षा 63 कर्म प्रकृतियों की उदीरणा (वेदनीयद्विक और मनुष्य आयु की उदीरणा इस गुणस्थान में सम्भव नहीं होती)।

10- सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त-

इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ के शेष अंश का उपशम या क्षय करता है तथा परिणाम स्वरूप क्रमशः 11 वें गुणस्थान या सीधा 12वें गुणस्थान को स्पर्श करता है। क्षायिक श्रेणीं का जीव यहां सारी कर्मप्रकृतियों का क्षय कर लेता है। सूक्ष्म लोभ के रहते आत्मा का यथाख्यात चारित्र नहीं होता है। इस गुणस्थानक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः। सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं।

धूदकोसुं मयवत्थं होहि जहा सुहमारायसंवृत्तं।
एवं सुहम कसाओ सुहम सरागोत्ति णा दव्वं।।59।। गो. जी

जिस प्रकार धुले हुये कोसू भी रेशमी वस्त्र में सूक्ष्म हल्की लालिमा शेष रह जाती है उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सुक्ष्म राग अर्थात् लोभ कषाय से युक्त होता है उसको सूक्ष्साम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

इस गुणस्थान में 17 कर्म प्रकृतियों का ही बंध सभंव है। ज्ञानावरणा.की-5, दर्शनावरण की -4, वेदनीय की-1, नामकर्म की एक, गोत्र की-2 तथा अन्तराय की-5। सत्ता की अपेक्षा से अधिकतम -148, न्यूनतम उपशम श्रेणीं में 139 और क्षपक श्रेणीं में192 कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उदय की अपेक्षा से-60 और उदीरणा की अपेक्षा से-57 कर्म प्रकृतियों की उदीरणा सम्भव है।(वेदनीयद्विक और मनुष्यायु)

11. उपशान्तमोह(उपशान्त कषाय वीतरागछदमस्थ)गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त--

मात्र उपशम श्रेणी का जीव ही यहाँ दसवें गुणस्थान से पहुँचता है। कषायों के उपशम होने से आत्मा निर्मल बन जाती हे। ठीक उसी प्रकार उस शांत सरोवर के निर्मल जल की तरह जिसकी मिट्टी तल में बैठ गई हो। किन्तु यह शान्ति अति अल्प समय (अन्तर्मुहूर्त) की होती है। यहाँ से पतन होकर जीव प्रथम गुणस्थान तक पहुँचता है। यदि उसकी इस गुणस्थान में रहते हुए मृत्यु हो जाती है तो वह अनुत्तर देवलोक में उत्पन्न हो जाता है।

उपशान्त कषायो येषा ते उपशान्त कषायाः। इस गुणस्थान में आरोहण करने वाला साधक मोहनीय कर्म की सभी 28 कर्म प्रकृतियों का पूर्व उपशम करके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त इस स्थिति में रहकर पुनः उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों के वेग और बल पूर्वक उदय में आने से

निश्चित रूप से नीचे के गुणस्थानों में गिर जाता है। **उसका गिरना दो प्रकार से होता है - काल क्षय और भव क्षय । जो काल क्षय से गिरता है वह दस, नौ, आठ और सातवें गुणस्थान में क्रम से आता है और जो भव क्षय से गिरता है वह सीधा चौथे गुणस्थान में आता है या प्रथम गुणस्थान में भी जा सकता है। गो.जी. गा.61।।**

इस गुणस्थान में बंध की अपेक्षा से मात्र-2, सातावेदनीय का बंध सम्भव है। सत्ता की अपेक्षा से अधिकतम 148 और न्यूनतम उपशम श्रेणीं में 139 कर्म प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है। उदय की दृष्टि से 59 (पूर्व गुणस्थान से सूक्ष्म लोभ कम होता है) और उदीरणा की अपेक्षा से56 कर्म प्रकृतियाँ संभव है।

12- क्षीणमोह गुणस्थान व कर्म सिद्धान्त

_मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय होने पर इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है। सर्व कर्म रहित होने से आत्मा वीतरागी बन जाती है। इस गुणस्थान की प्राप्ति क्षपक श्रेणी वाले गुणस्थानकवर्ती को होती है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यहाँ से मोक्ष निश्चय है। अन्य शब्दों में जिनकी कषाएं सर्वथा समूल क्षीण हो गयीं हैं, जो क्षीण कषाय होते हुये वीतराग हैं उन्हें क्षीण कषाय वीतराग कहते हैं ।

जस्सेस खीणमोहो भायणुदय समचित्तो।

खीण कसाओ भण्णदि णिंग्योवीयरायेहि।।गो.जी.गा. 62।।

जिस निर्ग्रन्थ का मन मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीणकषाय नाम का बारहवाँ गुणस्थानवर्ती साधक कहा है।

इसमें भी बंध की अपेक्षा से मात्र साता वेदनीय का ही बंध संभव है तथापि सत्ता की अपेक्षा से 101 और न्यूनतम 99 कर्म प्रकृतियां संभव है। ज्ञानावरण की-5, दर्शनावरण की-6 या 4, वेदनीय की-2, आयु की-1, नामकर्म की-80, गोत्र की-2, अन्तराय की-5।

उपशम श्रेणीं वाला जीव इस गुणस्थान को स्पर्श ही नहीं करता। मात्र क्षपक श्रेणीं वाला जीव ही यहाँ पहुँचता है।उदय और उदीरणा की अपेक्षा से प्रारम्भ में 57(बृषभ एवं नाराचं संहनन-2 ये पूर्व के 57 में कम हैं) तथा उदीरणा की अपेक्षा से 54 कर्म प्रकृतियां शेष रहतीं हैं । अन्त में निद्राद्विक की अपेक्षा से 55 कर्म प्रकृतियों का उदय व 52 कर्म प्रकृतियों की उदीरणा संभव है।

गुणस्थान में बंध सम्बधी नियम-

1- मिथ्यात्व की प्रधानता से 16 प्रकृतियों (मित्यात्व हुंडक संस्थान, नपुसंकवेद,असंमप्राप्त, सृपटिका, संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, अल्पसूक्ष्म, अपर्याप्तिक, साधारण द्वि इन्द्रिय,त्रि इन्द्रिय, चर्तुरिन्द्रिय, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु) का बंध होता है।

2- अनंतानुबंधी कषाय जनित अविरति से 25 प्रकृतियों (अनंतानुबंधी चार, सत्यानुगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, कीलित

संहनन, अप्रशस्त विहाययोग गति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, उद्योग, तिर्यगायु) का बंध होता है।

3- अप्रत्याख्यानावरण कषाय उदय जनित अविरति से 12 प्रकृतियों (अप्रत्याख्यान चार, बज्र वृषभ नारांच संहनन, औदारिक शरीर,औदारिक बंधन, औदारिक संघात, औदारिक आंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु आदि) का बंध होता है।

4- प्रत्याख्यनावरण कषाय उदय जनित अविरति से 4 प्रकृति (प्रत्याख्यान कषाय चार) का बंध होता है।

5- संज्वलन के तीव्र उदय जनित प्रमाद से 6 प्रकृति(अस्थिर, अशुभ, असाता वेदनीय, अयशकीर्ति, अरति और शोक) का बंध होता है।

6- संज्वलन और नौं कषाय के मन्द उदय से 58 प्रकृत्(निद्रा,प्रचला, देवायु, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त, विहायोगति, पंचेन्द्रियतेजस, कार्मण, आहारक, आहारक आंगोपांग, समचतुरस्र,संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक, वैक्रियक आंगोपांग, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपधात, परघात, उच्छवास, त्रस, वादर, पर्याप्तिक,प्रत्येक स्थिर, सुशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन, कषायचार, मत्यावरण आदि पाँच दानान्तराय आदि पाँच चक्षुदर्शनावरण, आदि चार यशः कीर्ति, उच्चगोत्र) का बंध होता है।

7- योग से एक सातावेदनीय का बंध होता है।

8- तीर्थंकरप्रकृति का बंध सम्यकदृष्टि के चतुर्थ गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक ही होता है।

9- आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग का बंध सातवें से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही होता है।

10- तीसरे गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध नहीं होता है।

गुणस्थानों के उदय संबन्धी नियम-

1- तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही होता है।

2- आहारक शरीर और आहारक आगोंपागं का उदय छठवें गुणस्थान में ही होता है।

3- सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होता है।

4- सम्यक् प्रकृति का उदय चौथे से सातवें गुणस्थान तक वेदकसम्यकदृष्टि के ही होता है।

5- नरकगत्यानुपूर्वी का उदय दूसरे गुणस्थान में नहीं होता है।

6- चारों आनुपूर्वी का उदय चौथे गुणस्थान में होता है।

7- विरह गति में पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान में ही होता है।

8- दूसरा गुणस्थान गिरते समय ही होता है।

9- दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव मरकर नरक नहीं जाता।

10-पहला गुणस्थान एक मिथ्यात्व और चार अनंतानुबंधी के उदय से होता है।

11-दूसरा गुणस्थान चार अनंतानुबंधी के उदय से होता है।

12-तीसरा गुणस्थान सम्यक् मिथ्यात्व के उदय से होता है।

13-चौथा गुणस्थान चार प्रकृति (चार अनंतानुबंधी, सम्यकप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति) के उपशम क्षय या एक सम्यक् प्रकृति के उदय से होता है।

14-पाँचवां गुणस्थान चारित्रमोहनीय की 17 कर्म प्रकृतियाँ (प्रत्याख्यान4, संज्वलन4, नौ कषाय के उदय से होता है)।

15- छठा गुणस्थान संज्वलन और नौकषाय के तीव्र उदय से होता है।

16- संज्वलन और नौकषाय के मन्द उदय से सातवां गुणस्थान होता है।

17- संज्वलन और नौकषाय के मन्दतर उदय से आठवां गुणस्थान होता है।

18- संज्वलन और नौकषाय के मन्दतम उदय से नौवां गुणस्थान होता है।

19- संज्वलन सूक्ष्म लोभ के उदय से दसवां गुणस्थान होता है।

20- मोहनीय कर्म के उपशम से ग्यारहवां गुणस्थान होता है।

21- मोहनीय कर्म के क्षय से बारहवां गुणस्थान होता है।

22-घातिया कर्म(ज्ञानावरणीय, दर्शनावणीय, मोहनीय, अन्तराय) के क्षय से तेरहवां गुणस्थान होता है।

<u>गुणस्थानों में सत्व संबन्धी नियम-</u>

1- तीर्थंकर की सत्ता वाला जीव दूसरे,तीसरे गुणस्थान का स्पर्श नहीं करता है।

2- आहारकशरीर और आहारकआगोंपागं की सत्ता वाला जीव दूसरे गुणस्थान का स्पर्श नहीं करता है।

3- वध्यमान और भुज्यमान दोनों की अपेक्षा नरकायु की सत्ता वाले जीव के देशव्रत नहीं होते।

4- तिर्यञ्च आयु की सत्ता वाले जीव महाव्रत धारण नहीं करते।

5- देवायु के जीव की क्षपक श्रेणी नहीं होती।

<u>मूलकर्मों का गुणस्थान में बंध-</u>

1- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म का बंध पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है।

2- मोहनीय कर्म का बंध पहले से नौवें गुणस्थान तक होता है।

3- आयुकर्म का बंध पहले से नौवें गुणस्थान तक होता है।

4- वेदनीय कर्म का बंध पहले से तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

5- नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म का बंध पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है।

<u>मूलकर्मों का गुणस्थान में उदय-</u>

1- ज्ञानावरणीय कर्म का उदय पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है।

2- दर्शनावरणीय कर्म का उदय पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है।

3- वेदनीय,आयु, नाम और गोत्रकर्म का उदय पहले से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

4- मोहनीय कर्म का उदय पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है।

5- अन्तराय कर्म का उदय पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है।

<u>मूलकर्मों के गुणस्थानों मे सत्व-</u>

1- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का सत्व पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

2- मोहनीयकर्म का सत्व पहले गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

3- वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र कर्म का सत्व पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

<u>मोहनीय कर्म से होने वाले गुणस्थान-</u>

1- दर्शन मोह के निमित्त से प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक होते हैं।

2- चारित्र मोह के निमित्त से पंचम से द्वादश गुणस्थान तक होते हैं।

3- योग के निमित्त से 13वां और 14वां गुणस्थान होता है।

<u>गुणस्थानों में जीवों की संख्या-</u>

1- प्रथम गुणस्थान में जीवों की संख्या अनंतानंत है।

2- द्वितीय गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

3- तृतीय गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

4- चतुर्थ गुणस्थान में जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

5- पंचम गुणस्थान मे जीवों की संख्या पल्य के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

6- प्रथम गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्या जगत श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

7- द्वितीय गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्याबावन (52) करोड़ है।

8- तृतीय गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्या एक सौ चार (104) करोड़ है।

9- चतुर्थ गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्या सातसौ (700) करोड़ है।

10- पंचम गुणस्थान में मनुष्यों की अपेक्षा संख्या तेरह(13) करोड़ है।

11- छठवें गुणस्थान में जीवों की संख्या पाँच करोड़ तिरानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छः है(5,93,98,206)।

12- सातवें गुणस्थान में जीवों की संख्या दो करोड़ छियानवे लाखनिन्यानवे हजार एक सौ तीन (2,96,99,103) है।

13- उपशम श्रेणी आठवें, नवमें, दशवें, ग्यारहवें गुणस्थान में 299,299,299,299जीव हैं।

14- उपशम श्रेणी में चारों गुणस्थानों में जीवों की संख्या 2196 है।

15- क्षपकश्रेणी आठवें, नोंवें, दशवें बारह वें गुणस्थानों में जीवों की संख्या 598,598,598,598 प्रमाण है।

16- क्षपकश्रेणी के चारों गुणस्थानों में जीवों की संख्या 2392 है।

17- तेरहवें गुणस्थान में जीवों की संख्या आठलाख अठानवे हजार पाँच सौ दो (8,98,502) है।

18- चौदहवें गुणस्थान में जीवों की संख्या 598 है।

19- छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक जीवों की संख्या का जोड़ है- 5-98, 98, 206 + 2, 96, 103 + 1196 + 2392 + 898502 + 598 = 8,92,99,997।

20- ये तीन कम नौ करोड़ मुनिराज भावलिंगी ही होते हैं।

21- द्रव्यलिंगी मुनिराज दुसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे गुणस्थान में भी होते हैं।

अध्याय- 6

तत्त्वार्थसूत्र में निहित गुणस्थान के अभिगम की समीक्षा

भूमिका-

तत्त्वार्थसूत्र में सात नय (नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समिभिरूढ़ एवं एवंभूत) वर्णित हैं। जीवसमास (जीवठाण अथवा गुणस्थान) में अंतिम दो नयों का अल्लेख नहीं है। वहीं सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को अस्वीकार करते हुए समभिरूढ़ एवं एवंभूत के साथ इनकी संख्या 6 मानते हैं। इससे प्रतीत होता है कि नयों की अवधारणा छठी सदी के उत्तरार्ध में विकसित हुई है और जीवसमास इससे पूर्व। जबकि गुणस्थानों के आधार पर अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों की अवधारणा ज्यों की त्यों देखने को नहीं मिलती जबकि जीव समास में है। षट्खण्डागम में भी पाँच नयों का उल्लेख है। गुणस्थान की अवधारण लगभग पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध और छठी सदी के पूर्वार्द्ध में कभी अस्तित्व में आयी होगी ऐसा माना जा सकता है।

जैन दर्शन में उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को कर्म विशुद्धि का विवेचन करने वाला एक प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। गुणस्थान सिद्धान्त की भाँति इसमें भी कर्मों के क्षय और उपशम की बात की गई है फिर भी कुछ भिन्नताएं दिखती हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कर्म विशुद्धि की 10 अवस्थाएं मानी गई हैं जिनमें से प्रथम पाँच का सम्बन्ध दर्शनमोह तथा अंतिम पाँच का सम्बन्ध चारित्रमोह से है। तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय को ध्यान में रखतें हुए यदि गुणस्थान का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि आध्यात्मिक विकास का यह क्रम प्रथम सम्यक्दृष्टि की अपेक्षा से काफी मेल खाता है। इसे प्रवाहक्रम में निम्नवत् रूप से भी समझा जा सकता है -

श्रावक और विरत के रूप में विकास **-** दर्शनमोह का उपशम– चौथी अवस्था में अनन्तानुबंधी कषायों का क्षपण– पाँचवीं अवस्था में दर्शनमोह का क्षय– छठवीं अवस्था में चारित्रमोह का उपशम– सातवीं अवस्था में चारित्रमोह का उपशान्त होना– आठवीं अवस्था में उपशान्त चारित्रमोह का क्षपण (क्षपक)– नौवीं अवस्था में चारित्र मोह क्षीण (क्षीण मोह) होना– दसवीं अवस्था में जिन की प्राप्ति।

<u>आत्मा या जीव का स्वरूप-</u>

ओपशमिक क्षायकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व मौदयिक पारिणामिकौ च।। 1 ।।

द्विनवाष्टा दशैक विंशिति त्रि भेदा यथाक्रमम।

उपर्युक्त सूत्र में आत्मा के भाव, विभिन्न पर्याय एवं उनकी अवस्थाएं बताई गई हैं। इन सभी को जैन दर्शन अधिकतम पाँच स्वरूपों में श्रेणीकृत करता है- 1. औपशमिक 2. क्षायिक 3.

क्षयोपशमिक 4. मिश्र और 5. पारिणामिक। इन पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस व तीन भेद हैं।

<u>आत्मा में आश्रव (बन्ध हेतु या निमित्त) के कारण-</u>

मन वचन व कायिक क्रियाओं का योग ही आश्रव है। इस योग में शुभाशुभ परिणति होती है **(शुभः पुण्यस्या शुभः पापस्य)।** दया दान ब्रह्मचर्य का पालन, शुभ काय योग, हिंसा चोरी अब्रह्म अशुभ काययोग, कठोर व मिथ्या भाषण अशुभ वाग्योग तथा दूसरों की भलाई-बुराई का चिन्तन शुभाशुभ मनोयोग कहलाता है। आठवें गुणस्थान तक ये आश्रविक योग कर्म बन्ध का निमित्त बनते हैं। **"अधिकरणं जीवाजीवा ।।8।। आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भ योगकृतकारितानुमुत्त कषाय विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।।9।।"**

<u>तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित अणुव्रती – महाव्रती की विशिष्टताएं तथा गुणस्थान संबंधी विधान-</u>

तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित अणुव्रती – महाव्रती की विशिष्टताएं 5 - 8 वें गुणस्थान की अवस्थाओं के साथ सुमेल रखते प्रतीत होते हैं। अणुव्रत – महाव्रत के तहत साधक के सम्यकत्व संबंधी आचरण हेतु व्यवस्थाएं गुणस्थान में कही गई हैं और तत्त्वार्थ सूत्र में इनका स्पष्ट वर्णन किया गया है। इस क्रम में व्रती दो प्रकार के होते हैं- अगारी (गृहस्थ) और अनगारी (त्यागी)। अणुव्रती अर्थात् अगारी तथा महाव्रती अर्थात् अनगारी। आत्मा सम्कत्व के साथ उच्चतर गुणस्थानों में बढ़ते हुए जिन गुणों व व्रतों को धारण करता है उन्हें व्रत कहा है। तत्त्वार्थसूत्र के 7वें अध्याय में इस प्रकार कहा गया है- **"हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम ।।1।।** हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत होना व्रत है। जब जीव इन व्रतों का सम्पूर्णरूप से पालन करता है तो वह महाव्रती कहलाता है। अणुव्रती – महाव्रती की कसौटी हेतु पाँच भावनाऐं कही गई है**- तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ।।3।।**

1. **अहिंसाव्रत की पाँच भावनाऐं-** ईर्या समिति, मनो गुप्ति, एषणा समिति,आदान-निक्षेपण समिति, तथा आलोकितपान भोजन।

2. **सत्यव्रत की पाँच भावनाऐं-** अनुवीचि भाषण, क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, भय प्रत्याख्यान निर्भयता, तथा हास्य प्रत्याख्यान।

3. **अचौर्यव्रत की पाँच भावनाऐं- अनुवीचिअवग्रह याचन, अभीक्ष्णअवग्रह याचन, अवग्रहाव धारण, साधार्मिकअवग्रह याचन तथा अनुज्ञापितपान भोजन।**

4. **ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाऐं- स्त्री पशुषण्कसेवित शय्यासन वर्जन, स्त्री रागकथा वर्जन, मनोहरेन्द्रियावलोकन वर्जन, पूर्वरतिविलास स्मरण वर्जन तथा प्रणीतरस वर्जन।**

5. अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाऐं- राग उत्पन्न करने वाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना आदि अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएं हैं।

<u>अगारीव्रती संबंधी विधान-</u>

1. अहिंसादि **पाँच व्रतों का** मर्यादित प्रमाण में पालन।

2. **दिग्वरितव्रत, देशविरत्तिव्रत तथा** अपने भोगरूप प्रयोजन अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण अधर्म व्यापार का त्याग **आदि तीन गुणव्रत धारण करना।**

3. **सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, तथा अतिथिसंविभाग चार शिक्षाव्रतों का पालन।**

4. निर्वाहक व पोषक कारणों को कम करते हुए कषायादि को मंद कर **संलेखना धारण करना-** मुनि सामान्यतः वर्तमान शरीर के अंत होने तक व्रत धरण करते हैं। किन्तु ग्रहस्थ भी श्रद्धापूर्वक सम्पूर्णतः इस व्रत को धारण कर सकते हैं।

<u>अणुव्रत व महाव्रतों के अतिचार-</u>

अतिचार साधना में बंधक बनते हुए जीव के गुणस्थान आरोहण की गति को पतनोन्मुख बनाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

<u>तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित कर्म एवं उनकी प्रकृतियां-</u>

कर्मों की 8 मूल प्रकृतियां हैं- **ज्ञानावरण(5), दर्शनावरण(9), वेदनीय(2)-,मोहनीय(28), आयु(4), नाम (42) गोत्र कर्म (2) और अन्तराय(-5)।**

<u>संवर के प्रमुख घटक</u> -

आश्रव निरोधः संवरः। 1 । स गुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। 2 ।

आश्रव निरोध (रुकना) ही संवर है। यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है जो कालान्तर में निर्जरा का निमित्त बनता है। संवर की यह स्थिति ही आत्मा को उच्च सम्यक्त्व की स्थिति की ओर ले जाती है। संवर के इन प्रमुख घटकों का विवेचन निम्नवत स्वरूप में किया जा सकता है-

(अ) गुप्ति- सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।4।

मन, वचन तथा काय योग का प्रशस्ति निग्रह ही गुप्ति का दमन करना कहलाता है अर्थात् सोच-समझकर व श्रद्धापूर्वक इन गुप्ति योगों को धारण करके अशुभता को रोकना एवं इन्हें सन्मार्ग पर ले जाना ही साधना के मार्ग पर अग्रसर होना है।

(आ) **समिति- ईर्योभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितिः।5।**

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग ये पांच प्रकार की समिति कही गई हैं जिनका अनुकरण साधक मुनिराज करते हैं।

अनुप्रेक्षा-भावनाऐं -

अनुप्रेक्षाऐं 12 हैं जिनका राग-द्वेष रहित गहन चिन्तन उत्कृष्ट साधक आत्म-शुद्धि हेतु करते हैं। अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आश्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा और धर्मास्तिख्यातत्वानुप्रेक्षा आदि तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाऐं गुणस्थान के भावलिंगी पक्ष का अर्थात् 9-14वें गुणस्थान की ओर आगे बढ़ने के प्रावधानों के समरूप हैं।

परिषह-

साधना व तपस्चर्या का व्यवहार मार्ग ही परिषह हैं जिन्हें सम भावों से सहते हुए आत्मा को दृढ़ता के पथ पर आगे ले जाया जाता है। उमास्वामीजी ततत्वार्थसूत्र के नौवे अध्याय में कहते हैं-**मार्गाच्वननिर्जरार्थ परिषोढ़व्याः परिषहाः।।8।।** अर्थात् संवर मार्ग से च्युत न होने के लिए एवं कर्मों की निर्जरा हेतु सहन करने योग्य हों वे परिषह कही गई हैं। ये 22 हैं।

क्षुप्तिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोधवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमल सत्कारपुरुस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।।9।।

इन 22 परिषहों कुछ आपस में परस्पर विरोधी हैं यथा- शीत-उष्ण, शय्या व चर्या आदि जो एक साथ संभव नहीं है। अतः एक समय में आत्मा अधिकतम 19 परिषह ही सहन करता है। एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोन विंशितेः।।17।। गुणस्थान विकास क्रम में इन परिषहों का स्थान 7वी - 9वी अवस्था की योग्याताओं के तहत रखा जा सकता है।

किस गुणस्थान में कितने परिषह होते हैं?

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दशः।।10।। एकादश जिने।।11।। बादरसाम्पराये सर्वे।।12।।

सूक्ष्मसाम्पराय नामक 10वें और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् 11वें उपशान्तमोह तथा 12वें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में 14 परिषह होते हैं- क्षुदा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान। इसलिए कहा जाता है कि मोह व योग के निमित्त से होने वाली आत्म-परिणामों की तरतमता को गुणस्थान कहते हैं। अयोग केवली नामक 13वें गुणस्थान में उक्त 14 में से अलाभ, प्रज्ञा व अज्ञान को छोड़कर शेष 11 परिषह ही होते हैं। बादर साम्पराय अर्थात स्थूल कषाय वाले छठवें से 9वें गुणस्थान तक सभी परिषह रहते हैं क्योंकि इसमें कर्मों का उदय कारणभूत होता है।

<u>कौन से परिषह किस कर्म के उदय से होते हैं?</u>

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने।।13।। दर्शनमोहोन्तरायलाभौ।।14।।

चारित्रमोहेनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरुस्कार।।15।। वेदनीयेशेषाः।।16।।

ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान, दर्शनमोहनीय और अन्तराय कर्म के उदय से क्रमशः दर्शन और अलाभ, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरुस्कार(7) तथा वेदनीय कर्म के उदय से शेष 11- क्षुदा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, शय्या, वध तृणस्पर्श और मल आदि परिषह होते हैं।

(इ) **<u>सम्यक्त्व चारित्र के भेद(5)-</u>** समयक्त्व चारित्र व्यवहारनय से साधना की विशुद्धि का शुद्ध साधन है जो गुणस्थान के उच्चतम शिखर तक ले जाने में सहायक होता है। **सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म तथा यथाख्याति चारित्र आदि** तत्त्वार्थ सूत्र में इसके 5 उपभेद कह गए हैं।

<u>गुणस्थान एवं निर्जरा का परिमाण</u>-

सम्यग्दृष्टि, पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत(मुनि), अनन्तानुबन्धी की कषायों की विरादना करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, चारित्र मोह का उपशम करने वाला, उपशान्त मोह वाला, क्षपकश्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीणमोह वाला-12वां गुणस्थानवर्ती तथा जिनेन्द्र भगवान इन सबके परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयु कर्म को छोड़कर प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है। कर्म निर्जरा के प्रसंग की 10 स्थितियों को तत्त्वार्थ सूत्र के 9वें अध्याय में इस प्रकार कहा गया है–

सम्यग्दृष्टि-श्रावक विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह, क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक क्षीणमोह जिनाः क्रमशोसंख्येय-गुणनिर्जरा।।45।।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्त वियोजक, दर्शन मोह क्षपक (चारित्र मोह) उपशमक, उपशान्त (चारित्र) मोह, क्षपक और क्षीण मोह आदि अवस्थाऐं उपर्युक्त सूत्र में स्पष्ट की गईं हैं जिनकी समानता गुणस्थान के सोपानों के साथ एक सीमा तक की जा सकती है। यदि अनन्त वियोजक को अप्रमत्तसंयत, दर्शनमोहक्षपक को अपूर्वकरण, उपशमक (चारित्र मोह) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो गुणस्थान के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। क्षपक श्रेणी को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि दर्शनमोहक्षपक की स्थिति अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान जैसी है किन्तु समस्या यहाँ उत्पन्न होती है कि आठवें गुणस्थान से क्षपक श्रेणी आरम्भ होती है जबकि तत्त्वार्थसूत्र में यहाँ दर्शनमोह का पूर्ण क्षय मान लिया गया है। गुणस्थानों में क्षीणमोह 12वाँ गुणस्थान है।

तत्त्वार्थसूत्र के रचियता उमास्वामिजी संभवत: दर्शनमोह व चारित्रमोह दोनों में पहले उपशम फिर क्षय मानते हैं।

तप- तप से निर्जरा व संवर दोनों होते हैं। वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय व मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वह तप है। तप मुख्यतः दो प्रकार के हैं- बाहय तप और अभ्यन्तर तप। **तपसा निर्जरा च।।3।।**

बाहय तप- जिसमें शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता हो वे बाहय तप है। **अनशन,अवमौदर्य या उनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्याशन और कायक्लेश आदि** इसके 6 भेद हैं।

अभ्यन्तर तप- आत्मा को शुद्ध करने वाले आन्तरिक तप अभ्यन्तर तप कहलाते हैं। **प्रायश्चित्त**, **विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग** और **ध्यान** इनके 6 भेद कहे हैं। **प्रायश्चित तप** के **आलोचना**, **प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, छेद, परिहार** और **उपस्थान आदि** 9 उप-भेद हैं। इसी प्रकार **विनय तप** के 4 उप-भेद हैं- **ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय। वैयावृत्ति तप** के **आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण**, कुल संघ तथा मनोज्ञ 10 उप-भेद हैं। **स्वाध्याय तप** के वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश आदि 5 भेद हैं। **व्युत्सर्ग तप** के 2 उप-भेद हैं- बाहयोपधिव्युत्सर्ग तथा आभ्योन्तरोपधिव्युत्सर्ग। तथा **ध्यान तप के 4 उप भेद हैं- आर्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल ध्यान।**

ध्यान एवं गुणस्थान-

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित आध्यात्मिक विकास की जो ध्यानादि स्थितियां उल्लखित हैं उनकी भी तुलना गुणस्थान से की जा सकती है। **ध्यान तप** का मुख्य लक्षण है चित्त को रोकना। एक पदार्थ ध्यान उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है जिसका काल अनतर्मुहुर्त से अधिक नहीं होता। गुणस्थान के आरोहण-पतन पथ में यह धयान देने योग्य है।

आर्तध्यान- अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने हेतु बार बार विचार करना(अनिष्ट संयोग), स्त्री पुत्रादि का वियोग होने पर उसके संयोग के बार बार चिन्ता करना(इष्ट वियोगज), रोगजनित पीड़ा का बार बार चिन्तवन करना(वेदनाजन्य) तथा आगामी काल सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना(निदानज) आदि आर्तध्यान हैं। चौथे पाँचवें व छठवें गुणस्थानों में इनकी उपस्थिति होती है किन्तु छठे गुणस्थान में निदानज ध्यान का अभाव होता है।

<u>रौद्र ध्यान</u>- हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण (इनमें एवं इनसे सम्बन्धित साधन जुटाने में आनन्द लेना) से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है। यह अविरत (चौथे), देशविरत(पाँचवें) गुणस्थानों में होता है।

<u>धर्म ध्यान</u>- आज्ञाविचय(आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना), अपायविचय(संसारी जीवों के दुःख का तथा उससे छूटने के उपायों का चिंतवन करना), विपाकविचय(कर्म के फल का-उदय का विचार करना) और संस्थानविचय(लोक के आकार का विचार करना) धर्म ध्यान के लक्षण कहे हैं। यह चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ने के पहले तक होता है।

<u>शुक्ल ध्यान</u>- सामान्यतया धर्म विशिष्ट ध्यान को धर्म ध्यान तथा शुद्ध ध्यान को शुक्लध्यान कहा गया है। शुक्लध्यान के 4 भेद हैं- अर्थात् पृथक्त्ववितर्क (जिसमें वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान और विचार दोनों हों) तथा एकत्ववितर्क(जो सिर्फ वितर्क सहित है)- ये पूर्व ज्ञान धारी श्रुतकेवली के ही होता है। शेष दो में शामिल हैं- सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से होने वाला सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान एवं व्युत्परतक्रियानिवृर्ति नामक शुक्लध्यान जिससे आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द पैदा करने वाली श्वासोच्छवास आदि समस्त क्रियाएं निवृत हो जाती हैं।

अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थान की अवस्थाओं में ध्यान की स्थिति निम्नवत् रहती है-

आर्तध्यान का सदभाव = तीनों अवस्थाओ में रहता है।

रौद्र ध्यान = अविरत व देशविरत अवस्था में होता है।

धर्म ध्यान = अप्रमत्त संयत को उपशान्त कषाय व क्षीण कषाय की अवस्था में होता है।

शुक्ल ध्यान = उपशान्तं कषाय (उपशान्त मोह), क्षीण कषाय (क्षीण मोह) की स्थितियों में होता है।

<u>तत्त्वार्थ सूत्र में 12वें - 14वें गुणस्थान की समकक्ष अवस्था का वर्णन-</u>

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम।। 1- अ. 10।।

मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त के लिए क्षीण कषाय नामक 12वाँ गुणस्थान पाकर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय का क्षय होने से (4 घातिया कर्म) केवलज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञातव्य है कि मोक्ष (सिद्धत्व की प्राप्ति) केवलज्ञान पूर्वक ही हो सकती है। समस्त कर्म प्रकृतियों का अभाव ही मोक्ष है।

औपशमकादिभव्यत्वानां च ।।3 ।। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।।4 ।।

क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, और सिद्धत्व के अतिरिक्त औपशमिक आदि भावों का अभाव होने से मोक्ष प्रकट होता है। 14 वें गुणस्थान की भी यही विशेषता है। तत्त्वार्थ सूत्र में सिद्धत्व की विशिष्टताओं के आधार पर मुक्त जीव में भेद किए गये हैं मुक्त जीव में भेद के कारण निम्न लिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट किए गए हैं-

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानवगाहान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।। 9।।

क्षेत्र- विभिन्न कर्म भूमियों(भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र) से सिद्ध हो सकते हैं।

काल- अवसर्पिणी व उत्सर्पणी कालों में भी सिद्ध होते हैं।

गति- कोई सिद्ध गति से तथा कोई मनुष्य गति से सिद्ध हो सकते हैं।

लिंग- भाव भेद का उदय नवम् गुणस्थान तक ही रहता है अतः मोक्ष अवेद अवस्था में ही होता है अर्थात् भावलिंग की अपेक्षा तीनों लिंगों से ही मोक्ष हो सकते हैं अथवा द्रव्य पुल्लिंग से।

तीर्थ- कोई तीर्थंकर के साथ तथा कोई बिना तीर्थंकर के सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार कोई तीर्थंकर काल में तथा कोई तीर्थंकरों के मोक्ष जाने के पश्चात(आम्नाय) से सिद्ध होते हैं।

चारित्र- सामान्यतया एक चारित्र किन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से तीन चारित्र से सिद्ध होते हैं।

बुद्धबोधित- कोई संसार से स्वयं विरत होते हैं तथा कोई किसी के उपदेश से।

ज्ञान- कोई एक ज्ञान से तथा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा से दो तीन और चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

अवगाहना-कोई उत्कृष्ट अवगाहना (पाँच सौ धनुष), कोई मध्यम अवगाहना तथा कोई जघन्य(साढ़े तीन हाथ से कुछ कम) अवगाहना से सिद्ध होते हैं।

अन्तर- एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध के मध्य का समय अन्तर कहलाता है जो जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से आठ समय है जबकि विरह काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से छः माह का है।

संख्या- जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टता से 108 जीव सिद्ध हो सकते हैं।

अल्पबहुत्व- समुद्र आदि जल क्षेत्रों से थोड़े सिद्ध होते हैं और विदेह क्षेत्रों से अधिक। यह कल्पना बाह्य भेद की अपेक्षा से है जबकि आत्मीय गुणों की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता।

उपसंहार-

तत्वार्थसूत्र शैली पर बौद्ध परम्परा व योग दर्शन व्यवस्थाओं का भी प्रभाव हो सकता है। बौद्ध दर्शन में आध्यात्मिक विकास की 4 भूमियां, योगवशिष्ठ की 7 स्थितियों की तरह उमास्वामिकृत तत्वार्थसूत्र में आत्मशुद्धि की 10 विधि, चतुर्विधि व सप्तविधि को आधार बनाया गया है। तत्वार्थसूत्र ग्रंथ गुणस्थान की विषयवस्तु से काफी कुछ समानता रखता है। आचार्य कुन्द- कुन्द रचित कसाय पाहुड़ के समान तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान नाम का शब्द नहीं मिलता है। कसाय पाहुड़ में उपलब्ध गुणस्थान से सम्बन्धित शब्द मिथ्यादृष्टि, सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत /विरता-विरत (संयमासंयम) , विरतसंयत उपशान्त कषाय एवं क्षीण मोह की तुलना में तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्-मिथ्यादृष्टि की धारणा नहीं है किन्तु अनन्तवियोजक नाम की अवधारणा है जिसका कसाय पाहुड में अभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नैतिक विकास की यात्रा नियतक्रम में जीव के आरोहण प्रवाह को स्पष्ट करती है। इसमें कहीं से भी जीव के पतनोन्मुख होने का विधान नहीं मिलता। जहाँ उमास्वामिजी ने इस ग्रंथ में यह माना है कि उपशम– उपशान्त– क्षपण व क्षय कर्म विशुद्ध का साधन है वहीं इसका खण्डन गुणस्थान सिद्धान्त में देखने को मिलता है यथा- दसवें गुणस्थान में जीव यदि नियत कर्मों का उपशम करता है तो ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है जो कि इस यात्रा में पतनोन्मुख होने का अंतिम सोपान है और यदि वह दसवें गुणस्थान में उपशम की जगह उन कर्मों का क्षय करता है तो क्षीण मोह नामक 12वें गुणस्थान में आरोहण कर लेता है जहाँ पर या जहाँ से आगे पतन की सम्भावनाएं समाप्त हो जाती है तथा सिद्धात्म की प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

*****

अध्याय- 7

द्रव्यसंग्रह में गुणस्थानक सिद्धान्त

द्रव्य संग्रह प्राकृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें जीव के अधिकारों व स्थितियों का वर्णन है।चूँकि गुणस्थान का सम्बन्ध भी जीव से एवं इसकी आध्यात्मिक उन्नति-अवनति की दशाओं से है इसलिए इस ग्रंथ का अध्ययन प्रस्तावित अभ्यास के संदर्भ में प्रासंगिक हो जाता है। इसमे गुणस्थानक प्रतिमानों की शोध निम्नवत् रूप में की गई है-

बृहदद्रव्यसंग्रह व गुणस्थानक स्थितियां- षट्द्रव्य व पंचास्तिकाय का निरूपण-

एवं छव्भेदमिदं जीवाजीवप्पभेददोदव्वं।

उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु।।23।। द्र. सं.।।

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।

काया इव बहु देसा तम्हा काया य अत्थि काया य।।24।।द्र. सं.।।

इस गाथा के माध्यम से जीवादि छः द्रव्यों का निरूपण किया गया है इनमें काल के अलावा शेष पाँच अस्तिकाय हैं कारण जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँचो द्रव्य विद्यमान हैं इसलिए इन्हें अस्ति माना जाता है। ये काय के समान बहु प्रदेशों को धारण करते हैं इसलिए इनको काय (पंच + अस्ति + काय = पंचास्तिकाय)।

जीवादि के नौ अधिकारों का सूचन -

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।

भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोढ्डगई ।।2।। द्र. सं.।।

जो उपयोगमय है, अमुर्त है, निज शरीर के बराबर है, भोत्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

चौदह जीव समासों का वर्णन–

समणा अमणा णेया पंचेन्दिय णिम्मणा परे सव्वे।

बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य।। 12 ।। द्र. सं.।।

पंचेन्दिय जीव संज्ञी और असंज्ञी से दो प्रकार के जानने चाहिए और दो इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय ये सब मन रहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं ऐसे 14 जीव समास हैं।

चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानों का वर्णन-

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह अशुद्धणया।

विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।। 13 ।। द्र. सं.।।

संसारी जीव अशुद्ध नय़ से चौदह मार्गणास्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्ध नय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं।

सिद्धजीव का स्वरूप और जीव के उर्धवगति स्वभाव का वर्णन-

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।

लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता।।14।। द्र. सं.।।

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित है, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं तथा अंतिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से युक्त हैं।

अजीव द्रव्यों का वर्णन-

अज्जीवो पुण णेयो पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु।।15।। द्र. सं.।।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पाँचों को अजीव जानना चाहिए। इनमें पुद्गल तो मूर्तिमान है। क्योंकि रूप आदि गुणों का धारक है। और शेष (बाकी) के चारों अमूर्त हैं।

पुद्गल द्रव्य के लक्षण-

सद्दो बंधो सुहमों थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।। 16।। द्र. सं.।।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, भेद, तम छाया, उद्योत और आतप आदि ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय होते हैं। यहाँ सद्दो बंधो का अर्थ रूप, रस गंधादि चार पुद्गल पर्यायों से लिया गया है।

धर्म द्रव्य के लक्षण-

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमण सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई।। 17।। द्र. सं.।।

पुद्गल व जीव के गमन में जो सहायक है वह धर्म द्रव्य है जैसे मछली के गमन में जल सहकारी है। और गमन न करने वाले पुद्गल व जीवों को धर्म द्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है।

अधर्म द्रव्य के लक्षण-

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।।18।। द्र. सं.।।

स्थित सहित जो पुद्गल और जीव हैं उनकी स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। जैसे पथिकों की स्थित या ठहराव में छाया सहकारी है। गमन करते हुए जीव तथा पुद्गल को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है।

आकाश द्रव्य के लक्षण-

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।।19।। द्र. सं.।।
धम्मा धम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।।20।। द्र. सं.।।

जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है वह आकाश द्रव्य है। इसके दो भेद हैं- लोकाकाश व अलोकाकाश। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल व जीव ये पाँचो द्रव्य जितने आकाश में हैं वह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाश के आगे अलोकाकाश है।

काल द्रव्य के लक्षण-

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।

परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्टो।।21।। द्र. सं.।।

लोयायासपदेसे इक्किके जे ठिया हु इक्किका।

रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि।।22।। द्र. सं.।।

जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप परिणामरूप देखा जाता है वह तो व्यवहार काल है और वर्तना लक्षण का धारक जो काल है वह निश्चय काल है। जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।

सप्त तत्त्व और नौ पदार्थ का लक्षण-

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सम्पुणपावा जे।

जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो।।28।। द्र. सं.।।

आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये सात तत्त्व तथा जीव व अजीव के साथ नौ भेद-रूप पदार्थ हैं ।

आश्रव का लक्षण-

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।

भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।।29।। द्र. सं.।।

जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आश्रव होता है वह भावाश्रव है तथा भावाश्रव से भिन्न ज्ञानावरणादिरूप कर्मों का जो आश्रव है सो द्रव्याश्रव है।

बंध के भेद-

पयदिट्ठ अणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो।

जोगा पयडिपदेसा ठिदअणुभागा कसायदो होंति।।33।। द्र. सं.।।

प्रकृति स्थिति अनुभाग व प्रदेश ये चार प्रकार के बंध हैं। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं।

संवर का लक्षण-

चेदणपरिणामों जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदु।

सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो।।34।। द्र. सं.।।

बदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।

चारित्तम बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा।।35।। द्र. सं.।।

जो चेतन का परिणाम कर्म के आश्रव को रोकने का कारण है उनको निश्चय से भावसंवर कहते हैं और जो द्रव्यासंवर को रोकने में कारण है वह द्रव्य संवर है। भावसंवर के भेदों में शामिल हैं- पाँचव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश-धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, 22 परीषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र आदि।

निर्जरा का लक्षण-

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा।।36।। द्र. सं.।।

जिस आत्मा के परिणामरूप भाव से कर्मरूपी पुद्गल फल देकर नष्ट होते हैं वह तो भाव निर्जरा है और सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से यथाकाल अर्थात् काललब्धिरूप काल से तथा अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से जो कर्मरूप पुद्गलों का नष्ट होना है सो द्रव्य निर्जरा है।

मोक्ष का लक्षण-

सव्वस कम्मणो जो खयहेदु अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमोक्खो दव्वलिमुक्खो य कम्मपुहबावो।।37।। द्र. सं.।।
जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कम णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि।।41।। द्र. सं.।।

सब कर्मों का नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है वह भावमोक्ष है और कर्मों की जो आत्मा से सर्वथा भिन्नता है वह द्रव्य मोक्ष है। सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे - अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग् चारित्र ये तीनों मोक्ष के कारण हैं। जीवादि तत्त्वों या पदार्थों में श्रद्धान सम्यक्त्व है।

पुण्य-पाप प्रकृति का लक्षण-

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च।।38।। द्र. सं.।।

शुभ-अशुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य और पाप रूप होते हैं। साता-वेदनीय शुभ आयु, शुभ नाम तथा उच्च गोत्र नामक कर्मों की जो प्रकृतियां हैं वे तो पुण्य प्रकृतियां हैं और अन्य सब पाप प्रकृतियां हैं।

अयोगकेवली गुणस्थान की निर्विकल्प स्थिति-

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए।।43।। द्र. सं.

यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह नील है इत्यादि पदार्थों को भिन्न भिन्न न करके पदार्थों का सामान्य रूप सत्तावलोकन का ग्रहण परमागम दर्शन की स्थिति है।

जीव अजीव धर्म अधर्म आकाश और काल ये द्रव्य के लक्षण कहे गए हैं। द्रव्य संग्रह की पहली गाथा में कहा गया है-

जीवो उवओ गमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससो ढंगई।।

इसी क्रम में आत्मा भी तीन प्रकार की मानी गई हैं- बहिरात्मा(मिथ्यादृष्टि), अन्तरात्मा(सम्यग्दृष्टि) और परमात्मा (सर्वदर्शी)।

पंच परमेष्ठी णमोकार महामंत्र एवं आत्म विशुद्धि की अवस्थाऐं
(गुणस्थानक विकास अवस्थाएं)

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आयरियाणं।
णमो उवझायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं।

जैन दर्शन में महामंत्र के रूप में प्रतिष्ठित 5 पद व 35 अक्षरों से शोभित णमोकार मंत्र में साधक-साधना की दृष्टि से गुणस्थानक समरूप स्थितियां परिलक्षित होती हैं। यहाँ अंतिम पाँचवी अवस्था- सर्व साधु है जो आत्म साधना की उत्कृष्ट किन्तु आरम्भिक अवस्था है जो सम्यक्त्व सहित है। इसे अभ्यासु सोपान (साधना या सीखने की दशा) में पाँचवें गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान का पूर्वार्द्ध देख सकते हैं। इस क्रमिक सोपान पर क्षुल्लक एवं ऐलक साधु व आर्यिकाएं आदि को रखा जाता है।

चौथी अवस्था में उपाध्याय मुनिगण आते हैं। यहाँ साधक स्वयं तो उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचता ही है साथ ही साथ आचार्य के निर्देश पर साधर्मी को वात्सल्य भाव से इसी पुरुषार्थ पथ(इन्द्रिय जय) पर चलने हेतु आवश्यक योग्य सैद्धान्तिक व व्यावहारिक ज्ञान से परिपक्व बनाता है।

तीसरी अवस्था साधना श्रेणी की वह उत्कृष्ट स्थिति है जिस पर मुनि विचरण करते हैं। इस श्रेणी के साधक आचार्य पद की गरिमा से सुशोभित होते हैं। इसके पश्चात के आत्म-साधक के लिए साधना व पुरुषार्थ हेतु कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। सारे कर्म बन्धन जली हुई रस्सी की भाँति जीर्ण- शीर्ण हो चुके होते हैं क्षीणमोह नामक 12वें गुणस्थान की भाँति। बस तैयारी रहती है इसके अगले चरण से अंतिम चरण (मोक्ष-ध्येय सिद्धि) के निकट पहुँचने की।

दूसरी पद स्थिति में पहुँचने से पूर्व जीव साधना प्रक्रिया के दरम्यान पहले अरिहंत अवस्था को प्राप्त होता है जहाँ जीव के सारे संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। राग-द्वेषादि भावों से रहित वह जीव मात्र केवलज्ञान पुंज स्वरूप रहता है बस देह-दोष ही शेष रह जाता है सयोग केवली नामक गुणस्थान की तरह।

दूसरे क्रम की सिद्धावस्था केवली के देहातीत होते ही प्राप्त होती है जिसमें आत्मा जन्म-मरण के झंझट से हमेशा के लिए छूटकर परमात्मा में लीन हो जाती है।

नवकार मंत्र व गुणस्थान: उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण-

जिस प्रकार लौकिक जगत में शैक्षिक योग्यता या डिग्रियों का उच्चतर आरोहणक्रम है यथा इण्टर, स्नातक, अनुस्नातक, विद्यावाचस्पति तथा अतिंम मुकाम अर्थात् मंजिल। ठीक इसी क्रम में नवकार मंत्र के पाँच पदों को गुणस्थानक आरोहण स्थिति क्रम के संदर्भ में समझा जा सकता है।

साधु परमेष्ठी- सम्यक्त्व चारित्र की आरम्भिक सीढ़ी जहाँ जीव वैराग्य आदि भावों से शिक्षित होकर 11 प्रतिमायुत 28 मूलगुणधारी साधुपद को ग्रहण करता है। यह इण्टर के समकक्ष भावी आधार को मजबूत करती आरम्भिक अवस्था का सूचक है। इसकी तुलना चौथे-पाँचवें गुणस्थानक स्थिति के साथ की जा सकती है।

मुनि साधना को आगे बढ़ाते हुए 11 अंग व 14 पूर्वों का पाठी 25 मूलगुणधारी मुनि उपाध्याय परमेष्ठी बनता है स्नातक की भाँति। यह वात्सल्य भाव के साथ साधु परमेष्ठियों को अध्यापन कराता है।

मुनि साधना में परिपक्व होते हुए वह 36 मूलगुणधारी चार्य पद ग्रहण कर मुनि या साधु दीक्षा देने की योग्यता व दायित्व को ग्रहण करता है। स अवस्यता को य्नुस्नातक समकक्ष समझा जा सकता है।

आचार्य अपनी साधना को आगे बढ़ाते हुए घातिया कर्मों का नाश कर देते है और मोक्ष मार्ग के नेता कहलाते हैं। ये अरिहंत परमेष्ठी 46 मूलगुणधारी होते हैं। यह विकास की अंतिम पुरुषार्थ सिद्धि की अवस्था है जिसे विद्यावाचस्पति समकक्ष माना जा सकता है।

जब अरिहंत परमेष्ठी योग निरोध के द्वारा देहातीत भाव से युत होकर परमसुख की सिद्धावस्था में अवस्थित हो जाते है तो उन्हें सिद्ध परमेष्ठी कहा जाता है। यह है साधक-साधना का लक्ष्यांकित मुकाम जहाँ ध्यान-ध्याता व ध्येय के मध्य कोई भेद नहीं रह जाता।

*****

अध्याय - 8

गुणस्थान का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आध्यात्मिक विकास की यात्रा जीव के परिणाम (भावों) एवं व्यवहार के आधार पर चलती है किन्तु इसमें भावों की प्रधानता अधिक होती है। इस विकास यात्रा के उत्कृष्ट सोपानों में भाव शुद्धि ही आत्म विशुद्धि का साधन मात्र रह जाती है। मनोवैज्ञानिक आधारों में चेतना या अवबोधन, पुरुषार्थ के प्रति रुझान अर्थात् मनोवृत्ति व मूल्य ,पुरुषार्थ एवं कर्म जनित भावों की तीव्रता अर्थात संवेग, कर्मक्षय के पुरुषार्थ की शैली अर्थात् व्यक्तित्व, आगे बढ़ने हेतु प्रेरणात्मक घटकों का नियतक्रम या अभिप्रेरण, आत्मिक या आन्तरिक संघर्ष, दृढ़ता, मनोवेगों की प्रभावशीलता तथा उस पर नियन्त्रण का आत्मबल व दमन- क्षय की शक्ति, सम्यक् मार्ग में विश्वास, ध्यान का स्व की ओर केन्द्रीयकरण, एकाग्रता व अहम् रहित नैतिक आदर्श आदि पहलुओं को विश्लेषण की दृष्टि से सम्मिलित किया जा सकता है तथा गुणस्थानों के साथ इनकी सापेक्षता को स्थापित किया जा सकता है।

प्राचीन जैनागमों में आत्मा की नैतिक व आध्यात्मिक उत्क्रान्ति को गुणस्थान पद्धति द्वारा स्पष्ट किया गया है जो विकास यात्रा के साधन स्वरूप में विभिन्न मनोभूमियों के चित्रण से परिपूर्ण हैं। जीव के कर्मों का बन्ध, उदीरणारूपी पुरुषार्थ, कर्मक्षय या निर्जरा सम्बन्धी मनोभावों का परिणाम है। मोहाशक्ति की उत्कटता, मंदता एवं अभाव की स्थितियां गुणस्थान विकास की अपेक्षा से जीव के मन या भावों से एक हद तक जुड़ी मानी जा सकती है जिसके चलते जीव सम्यक् ज्ञान (दर्शन मोह) व नैतिक आचरण (चारित्र मोह) से विलग रहता है। आध्यात्मिक विकास की इस यात्रा में अज्ञान, संशय, मनोविकार, स्व तथा स्वार्थ प्रेरित पुरुषार्थ के दायरे (गीता के अनुसार- कर्म फल की आकांक्षा व तामसी वृत्ति) तथा लक्ष्य की तरफ प्रेरक सिद्धि की दृढ़ता का अभाव आदि बाधक कारक हैं जो मुख्यतः मन का विषय हैं। व्यक्ति 'मैं ' पर केन्द्रित होकर कषायादि परिणामों को हवा देता है तथा मेरा – तेरा के अहम् जनित संघर्ष में निज स्वरूप की ओर उन्मुख नहीं होता। संयोग पाकर उसके भाव 'मैं ' से 'हम' में परवर्तित होते हैं जहाँ शुभाशुभ परिणामों पर आधारित "परस्परोपग्रहोजीवानाम्" की तरह 'कल्याण ' की अनुभूति रहती है किन्तु ये भी कर्म बन्ध के कारक हैं भले ही वे शुभ क्यों न हों फिर भी यह मुक्ति का साधन नहीं हो सकते। इसके लिए तो 'शून्यता' की ओर तेजी से बढ़ना होता है तथा उसी में निर्विकल्प होकर एकाग्र या स्थिर होना पड़ता है। इसकी प्रभावशीलता का व्यावहारिक पटल से जुड़ा एक उदाहरण देखें तो स्वामी विवेकानन्द का

शिकागो सम्मेलन में 'शून्य' पर दिया गया वह वक्तव्य स्मृति पटल पर अंकित हो जाता है जिसने सम्पूर्ण विश्व को झकझोर कर रख दिया। कहने का आशय यह है कि निर्विकारी शून्यता अर्थात नियन्त्रित व क्षय की जा चुकी मनोवृत्तियां ही जीव की आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक सिद्ध हो सकती हैं।

प्रमुख मनोवैज्ञानिक आधारों की सापेक्षता क्रम में गुणस्थान की व्याख्या -

1. अवबोधन (Perception)-

अवबोधन का अर्थ है- ज्ञान, समझ या श्रद्धान जो किसी तत्त्व के (जीवादि सप्त तत्त्व) सापेक्ष होता है। सामान्य तौर पर इस नियत समझ के पीछे उसका ज्ञान या अज्ञान प्रमुख कारक होता है। यहाँ तत्त्व बोध की प्रमुख स्थितियां इस प्रकार हो सकतीं हैं यथा-

- तत्त्व या वस्तु का जो स्वरूप है उसे निष्पक्षता या तटस्थता के साथ उसी रूप में समझना तथा उसके एकानेक रूपों को स्वीकारना। उमास्वामीकृत तत्वार्थ-सूत्र के **गुण पर्ययः वदद्रव्यं।।38।।** नामक सूत्र के द्वारा इसकी पुष्टि की जा सकती है। इस प्रकार के बोध को सम्यक् बोध कहा जाता है। अवबोधन आचरण (चारित्र या व्यवहार) की दिशा निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

तत्त्व के प्रति सम-दृष्टिपूर्ण या यथार्थ समझ को सम्यकत्व कहा जा सकता है। गुणस्थान विकास के क्रम में यह स्थिति चतुर्थ गुणस्थान में मिलती है। अवबोधन की अज्ञान दशा में जीव को वस्तु या तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं हो पाता। वह सत्-असत् में भेद करने में असमर्थ होता है। यह स्थिति मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में रहती है। मिथ्यात्व के उपभेद जड़ता की स्थिति को लेकर किये जाते हैं। यहाँ अवबोधन की भ्रम-विभ्रम जैसी स्थितियों को सापेक्ष रखकर और अधिक स्पष्टता की जा सकती है। यथा

- मोहाशक्ति व भौतिक पदर्थों में सच्चे सुख की कामना एवं अज्ञान के चलते कुगुरू, कुदेव व कुधर्म में श्रद्धान जड़ता या मूढ़ता का प्रतीक है जिसमें जीव को अपने भले-बुरे का भेद समझ नहीं आता।
- मिथ्यात्वी जीवों की जघन्य स्थिति मूर्छा है जिसमें समझ व चेतना का सर्वथा अभाव पाया जाता है। जैन दर्शन में ऐसे जीवों को निगोदिया सूक्ष्म जीवों की श्रेणी में रखा गया है जो अनन्त काल तक इससे बाहर नहीं निकल पाते।
- अवबोधन की एक अन्य स्थिति भ्रम है जिसके चलते कार्य-समझ पर आवरण (ज्ञानावरण) आ जाता है और व्यक्ति असत् को ही सत् मानकर मिथयात्व में श्रद्धान कर बैठता है अर्थात् वस्तु कुछ और है उसे समझा कुछ और।

- इस उपरोक्त मिथ्यात्व की तीव्रता उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब वह इस समझे हुए असत् को सत् साबित करने का हठाग्रह धारण कर लेता है एवं इसमें दुष्प्रवृत्त हो जाता है।

- अवबोधन की एक अन्य स्थिति विभ्रम है जिसमें जीव की भोगासक्ति व पर- पदार्थों या भौतिक पदार्थों के प्रति लालसा इतनी तीव्र होती है कि मिथ्यात्वी मृगमारीचिका की ओर उसका रुझान इस कदर गहराता जाता है कि वह उस तत्त्व के न होने पर भी उसकी उपस्थिति का श्रद्धान कर बैठता है- स्वपनिल दशा की भाँति। इसी विभ्रम-जनित पथ का अन्धानुकरण करते हुए मन व बुद्धि पर नियन्त्रण गँवा कर मिथ्यात्व के दलदल में फँसता चला जाता है।

अवबोधन की भ्रम-विभ्रम नामक स्थितियां पतोन्मुखी तृतीय मिश्र व द्वितीय सासादन गुणस्थान में देखने को मिलती हैं। संशय होने पर ही वह सम्यकत्व से पतित होता है तथा मोहासक्ति व विभ्रम के चलते सास्वादन गुणस्थान में गिरता हुआ मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से यदि आत्मा उपशम श्रेणी का आश्रय लेकर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान तक बढ़ती है तो आत्मा उसी क्रम में पतोन्मुख होती हुई नीचे की ओर गिरती है जिस क्रम में आरोहण किया था जबकि क्षपक श्रेणी का आश्रय लेकर ग्यारहवें गुणस्थान को स्पर्श किये बिना क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँचती है। क्षपक श्रेणी सम्यक्त्वी दृढ़तापूर्ण अवबोधन के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है जिसमें अंतिम लक्ष्य की सिद्धि या कर्म मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है जबकि उपशम श्रेणी सम्यक्त्वी अवबोधन की अस्थायी दृढ़ता का प्रतीक है जिसमें उपशम किये गये कषायादि वासनात्मक विकारी परिणाम पुनः सक्रिय होकर जीव को पतोन्मुखी बना सकते हैं। जीव इस स्थिति में किसी भी गुणस्थान से सम्यक् अवबोधन से युत होकर पुनः क्षायकत्व ग्रहण करके शाश्वत लक्ष्य की ओर गति कर सकता है।

जिस प्रकार मूर्च्छा , मूढ़ता व अज्ञान मिथ्यात्वी तीव्रता या मोहान्धकारी अवबोधन का प्रतीक है ठीक इसके विपरीत तेरहवें- चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञानरूपी आभा के स्वरूप में सम्यक्तवी अवबोधन की पराकाष्ठा व इससे जनित सुखद अनुभूति के दर्शन होते हैं।

नोट- भ्रान्ति से युक्त व्यक्तियों में उपयुक्त अवबोधन के अभाव में सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार होने की संभावना बनी रहती है।

- अतिचार अज्ञान रहित अवबोध का परिणाम है
- जबकि अनाचरण असत, हठाग्रह के चलते स्थान लेता है।

2- **मनोवृत्ति एवं मूल्य-(Attitude and Values)**

मॉर्गन ने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि अभिवृत्ति एक प्रकार का पूर्वाग्रह है जो अनुकूल, प्रतिकूल व तटस्थ रूप में किसी घटना या बात पर प्रक्षेपित होता है। संवेगों की मूल प्रवृत्ति के सृजन में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अभिवृत्ति को अर्जित विश्वास की संज्ञा भी दी जाती है। इसमें परिवर्तन संभव है। ये भावों की दशा- दिशा तय करने में केन्द्रीय स्थिति में होते हैं। मनोवृत्ति एवं मूल्य व्यक्ति की सोच व व्यवहार को निर्देशित करते हैं- मनोवृत्ति का रुझान या झुकाव। अन्य शब्दों में मनोवृत्ति को वह स्थायी मानसिक धारणा कहा जा सकता है जो आसक्तिवश उसके द्वारा वस्तु या तत्त्व विशेष के संदर्भ में बाँधी गयी हो और इसी से सम्बद्ध हैं मूल्य अवधारणा । जैसे एक लायब्रेरियन की दृष्टि में सभी ग्रन्थ समान हैं अथवा कीमत, शीर्षक व अन्य किसी आधार पर श्रेणीकृत है किन्तु संशोधक –विद्यार्थी के लिए उसके मूल्यानुरूप निहित उद्देश्य एवं अर्थ है जिसका विशिष्ट महत्व हो सकता है। मूल्यों के चलते ही व्यक्ति किसी वस्तु की अहमियत का आंकलन करता है यथा धर्मानुरागी व्यक्ति के लिये प्राचीन शास्त्र अमूल्य धरोहर हो सकती है वहीं आर्थिक मूल्यधारी उसी वस्तु को अमूल्य मानता है जिसमें अपेक्षाकृत लाभार्जन का प्रमाण अधिक हो। वस्तुतः यहाँ वस्तु का स्वयं में कोई मूल्य व महत्व नहीं होता अपितु मूल्य या स्थान निर्धारित होता है व्यक्ति में रहे उन शाश्वत मूल्यों से जो उसकी तर्क शक्ति को नियत दिशा-निर्देश प्रदान करते हैं । इस प्रकार मूल्य व मनोनृत्ति दोनों ही मन प्रधान घटक हैं जो आन्तरिक भावों एवं बाह्य व्यवहार को प्रमाणित करते हैं। मनोवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

अ- **सकारात्मक मनोवृत्ति-** यह मोह-आसक्ति व रागात्मक झुकाव से प्रेरित हैं। इसमें आत्मा शुभ व कल्याणकारी प्रवृत्तियों में रत हो सकती है।

ब- **नकारात्मक मनोवृत्ति-** यह द्वेष भाव से प्रेरित मानसिक झुकाव है जिसमें कषायादि परिणामों की तीव्रता रहती है फलस्वरूप पाप कर्म का बंध होता है।

स- **तटस्थ मनोवृत्ति-** यह राग द्वेष रहित मनोवृत्ति मानी जाती है इसमें सभी क्रियाऐं (योगिक क्रियाऐं) निष्क्रिय हो जाती हैं।

मनोवृत्ति के इन उप-भागों का प्रभाव गुणस्थानों में देखा जा सकता है जैसे- कषाय, वासना, द्वेष व कृष्ण, नील, कापोत लेश्या जनित परिणामों से जीव सम्यकत्व रहित गुणस्थानों अर्थात, मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थानों को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा कर्म विशुद्धि के मार्ग पर उपशम विधि को अपनाकर ग्यारहवें

गुणस्थान तक पहुँचता है तो वहाँ भी अन्तर्मुहुर्त की अस्थाई उपशान्त स्थिति के पश्चात इन शमित नकारात्मक मनोवृत्ति जनित परिणामों का पुनः प्रकटीकरण हो जाता है और वह पतोन्मुखी गति करता है।

सकारात्मक मनोवृत्ति मोह, रागादि भाव एवं शुभ-पुण्य कर्मों की ओर जीव को प्रेरित करने में सहाय-रूप होती है। इस तरह का रुझान रखने वाले जीव के यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय की तीव्रता नहीं होती फिर भी आध्यात्मिक विकास की इस यात्रा को अंतिम मुकाम तक पहुँचने में मोह रूप कर्म प्रकृतियाँ बाधक हो सकती हैं। सकारात्मक सोच वाला साधक स्व के साथ-साथ साधर्मी जीवों के प्रति सहयोग का भाव रखते हुए कल्याणोन्मुखी बनता है। उसके आचरण में सत् का प्रभाव देखने को मिलता है। यह आत्मा धीरे-धीरे उत्क्रांति द्वारा तटस्थता की ओर बढ़ने की मानसिक परिपक्वता हाँसिल करने का प्रयास करती है। इसकी तुलना गीता में वर्णित रजो-सत्वगुण अवस्था से की जा सकती है। सकारात्मकता नैतिक या चारित्रिक जैसे व्यवहारिक पहलू से सरोकार रखती है। अतः गुणस्थान विकास क्रम की अपेक्षा से इस मनोवृत्ति जनित भाव की उपस्थिति चतुर्थ गुणस्थान के उत्तरार्द्ध से दसवें गुणस्थान तक देखी जा सकती है। जैसे-जैसे आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में आरोहण करता है वैसे-वैसे इस कल्याणकारी वृत्ति का विस्तार कम होता जाता है और उसी प्रमाण में तटस्थता पूर्ण मनोवृत्ति का प्रभाव जीव की यात्रा के उत्कृष्ट सोपानों में दिखता है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में सकारात्मक मनोवृत्ति की अल्पाशं झलक मिलती है। तेरहवें एवं चौदहवे गुणस्थानों में सकारात्मक व नकारात्मक मनोभावों का सर्वथा अभाव हो जाता है और रह जाती है निर्विकल्परूप तटस्थ मनोवृत्ति जिसमें न इच्छा है और न चंचलता।

इसी प्रकार इस आध्यात्मिक विकास की यात्रा में मूल्यों के प्रभाव को समझा जा सकता है। व्यक्ति के जीवन अर्थात सोच एवं व्यवहार के प्रतिमान जिस आन्तरिक वृत्ति के आधार पर संचालित होते हैं उन्हें मूल्य कहा जाता है। ये मूल्य उसे वशांनुगत विरासत या वातावरण से मिलते हैं जिसे निमित्त, नियति या पूर्व जन्मों का कर्म फल माना जा सकता है वहीं अच्छा संयोग सदबुद्धी पाकर व्यक्ति अपने एवं दूसरों के हित संरक्षण की आकांक्षा से पुरुषार्थ द्वारा सद् मूल्यों का विकास कर लेता है। ये मूल्य ही उसकी सोच को एक नियत दिशा प्रदान करते हैं। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने मनोभावों पर नियन्त्रण करता है और अपनी जीवन चर्या को एक विशिष्ट तरीके से संचालित करता है। एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है कि व्यक्ति में सत्-असत् दोनों ही प्रकार के मूल्यों का समुच्चय होता है किन्तु समय विशेष पर कौन सा मूल्य अधिक क्रियाशील होगा इसका निरूपण उसके व्यवहार में दृष्टिगोचर होने लगता है। मनोविज्ञान में विभिन्न मूल्य विभेद के उदाहरण हैं यथा-

- धार्मिक या आध्यात्मिक मूल्य -नैतिक मूल्य या परमार्थ मूल्य
- कलात्मक मूल्य - आर्थिक मूल्य आदि।

मूल्य प्रधानता के आधार पर ही साधक तत्त्वादि के संदर्भ में अवलोकन व बोध ग्रहण करता है एवं तदानुरूप ही चारित्र पथ का अनुसरण करता है। मूल्य मनोवृत्तियों की दृढ़ता में भी सहायक हैं। गुणस्थानक विकास के संदर्भ में मूल्यों की भूमिका को देखें तो कहा जा सकता है कि असत् व शुभाशुभ परिणाम प्रेरित सांसारिक मूल्यों की उपस्थित व्यक्ति को सम्यकत्व से नीचे के तीन गुणस्थानों (मिथ्यात्व, मिश्र व सासादन) की ओर ले जाने का कारक या निमित्त बनती है जबकि आध्यात्मिक व नैतिक मूल्यों की प्रधानता उसे चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों की ओर गति कराने में सहायक होती है।

मूल्य अभिवृत्ति की दृढ़ता के कारण को मोड़ने का सामर्थ्य रखते हैं। इन पर संस्कार और वातावरण का प्रभाव होता है। मूल्यों के सृजन व सामन्जस्य के मिश्रण पर वातावरण का इतना प्रभाव होता है कि वे मानसिक द्वंद व संघर्षों को झेलने में चट्टान का कार्य करते हैं। मूल्य ही आत्मबल, विश्वास व चारित्र व्यवहार को दृढ़ बनाते हैं और इसके सहारे तय होते हैं आध्यात्मिक विकास यात्रा के सोपान।

3. **अभिप्रेरण की विचारधाराऐं- (Theories of Motivation)**

मनोविज्ञानियों का मानना है कि कोई भी व्यक्ति यदि किसी कार्य में शारीरिक-मानसिक रूप से संलग्न होता है तो उसके पीछे प्रेरणा प्रदान करने वाले जो घटक हैं वे हैं आवश्यकता, वातावरण और स्थापित व्यवस्थाऐं। यहाँ अभिप्रेरण की सर्वाधिक प्रचलित तीन प्रमुख विचारधाराओं के साथ गुणस्थान के मनोवैज्ञानिक पक्ष का विश्लेषण करना न्याय संगत होगा।

(अ) मास्लो की आवश्यकता-क्रम अभिप्रेरण विचारधारा-

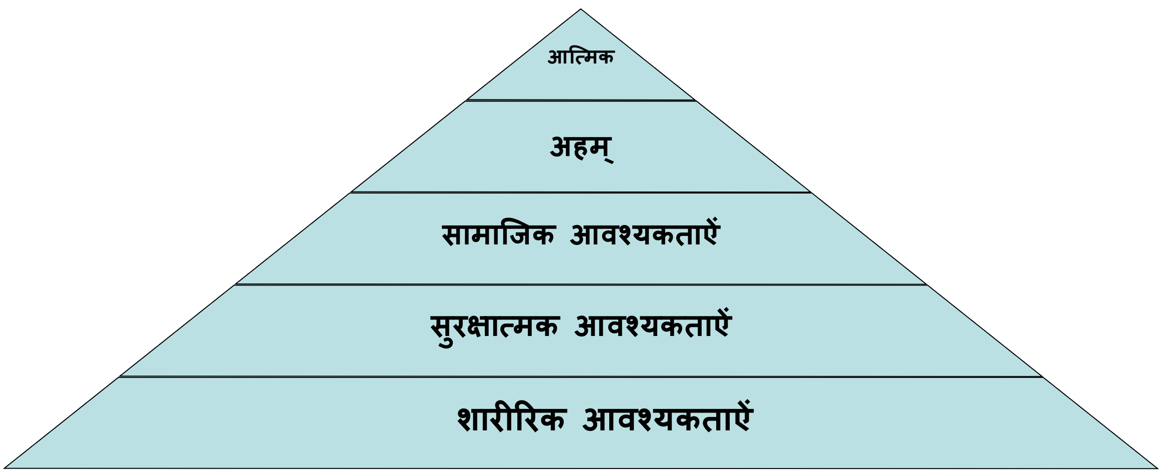

चित्रः- **मास्लो की आवश्यकता-क्रम अभिप्रेरण विचारधारा**

मास्लो आवश्यकता-क्रम विचारघारा में स्पष्टता करते हैं कि आवश्यकताऐं कई प्रकार की होती हैं जिन्हें उन्होंने उपरोक्त पाँच विभागों में श्रेणीकृत किया है। आपका मत है कि व्यक्ति एक नियत क्रम में ही अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु उद्‌यत होता है। निम्नस्तरीय अर्थात बुनियादी देहिक आवश्यकताऐं उसके प्राथमिक क्रम में रहती हैं उसके पश्चात वह अपनी उच्च आवश्यकताओं (आवश्यक, प्रतिष्ठापरक एवं आत्म संतुष्टी) की ओर अग्रसर होता है। इस विकास यात्रा पथ में वह स्व से सर्व की ओर गति करता हुआ निर्लिप्त व निर्विकारी निजात्म पर पहुँचने हेतु पुरुषार्थबद्ध हो जाता है। ज्यों-ज्यों ऊपरी आवश्यकताऐं प्रेरणा का स्रोत बनती हैं त्यों-त्यों उसके भौतिक परिमाण में कमी होती जाती है। स्व से सर्व एवं पुनः स्व की ओर उन्मुखता कुछ इस तरह चक्रित होती है-

(सांसारिकतालक्षी) स्व ⟹ सर्व ⟹ स्व (निजात्म केन्द्रित)

आरम्भिक स्व की अवस्था वह अयथार्थ बाह्य प्रतिरूपण है जहाँ व्यक्ति अपने नियत दायरों में ही सिमटा रहता है एवं जिसमें भौतिकवादिता, स्वार्थपरिता तथा राग-द्‌वेषी आकांक्षाऐं प्रमुख प्रेरक होती हैं। इसकी तुलना मिथ्यात्वी व मिश्र गुणस्थानक विशिष्टताओं से कर सकते हैं। सर्व को कल्याणकारी अवस्था का प्रतीक माना जा सकता है। जीव यहाँ परहित व शुभ प्रवृत्तियों में रत होकर यद्‌यपि विकास के कुछ सोपान अवश्य चढ़ता है किन्तु विशुद्धि मार्ग को प्राप्त नहीं हो पाता। इसमें एक मिश्र रूप परिलक्षित होता है। इसकी तुलना बाह्य शुद्धि की विशिष्टता वाले पाँचवें-छठवें गुणस्थान से कर सकते हैं।

अंतिम स्व परमात्म स्वरूप की सिद्धि हेतु आत्म प्रदेशों को यद्‌यपि नियत दायरे में ही समेट लेता है किन्तु यहाँ कषाय व राग-द्‌वेषादि परिणाम नहीं होते। इसीलिए यहाँ साधक निजात्म की ओर आन्तरिक रूप से स्व केन्द्रित होकर यथार्थ बोध को प्राप्त हो पाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये तीनों अवस्थाऐं प्रथक रूप के अभिप्रेरक हैं।

गुणस्थान आध्यात्मिक विकास यात्रा के सोपानों से यदि इसकी तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि प्रथम दो अवस्थाऐं सम्यकत्व के नीचे वाले गुणस्थान से सरोकार रखतीं हैं जो भौतिकता व सांसारिकता का विषय है । सामाजिकता या परमार्थलक्षी आवश्यकताओं के तहत व्यक्ति उन क्रियाओं को करने में हर्ष का अनुभव करता है जो उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि करतीं हैं। पाँचवे- छठे गुणस्थान से जुड़े वे शुभ बाह्य आचरण इस श्रेंणी में आ सकते हैं जिन्हें समाज आदर की दृष्टि से देखता है। अंतिम दो अवस्थाऐं पूर्णतः मन का विषय हैं अर्थात मानसिक संतुष्टि का हिस्सा हैं। अहम् दैहिक आवश्यकताओं से परे आत्मिक पुरुषार्थ तो है किन्तु निर्लिप्त नहीं है इसलिए यह अवस्था छटवे गुणस्थान के उत्तरार्द्ध व सातवें गुणस्थान के पूवार्द्ध समान प्रतीत होती है। अंतिम आत्म- विकास इन सांसारिक भावों से

ऊपर की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है जिसमें सिर्फ आंतरिक संतुष्टि हेतु कार्यों की प्रेरणा ही अभिप्रेक होती है। इसे आठवें से ऊपर के गुणस्थानों के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है।

(ब) हर्जबर्ग की अभिप्रेरण विचारधारा-

हर्जबर्ग की अभिप्रेरण विचारधारा आवश्यकतापूर्ति के नियतक्रम सिद्धांत का खण्डन करती है एवं अभिप्रेरकों कों दो भागों में वर्गीकृत करती है-

-आरोग्य या अनुरक्षण घटक (Hygiene or Maintenance factors)

आरोग्यलक्षी घटकों के अवयवों में वातावरणीय दशाऐं, नीतिगत नैतिक प्रतिमान तथा विधान एवं व्यवस्थाओं आदि को सम्मिलित किया जाता है। हर्जबर्ग मानते हैं कि ये आरोग्य तत्त्व अच्छी प्रेरणा के लिए तो बहुत आवश्यक हैं किन्तु वे स्वयं कोई प्रेरणा नहीं दे सकते। इन तत्त्वों के बढ़ने से अभिप्रेरणा तो नहीं बढ़ती किन्तु इनका प्रमाण घटने से कमी अवश्य आती है। जैन दर्शन के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पक्ष में वातावरणीय प्रासंगिकता को कुछ इस तरह स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति को श्रावक-साधु व साधकोन्मुखी बनाने में वातावरणीय घटकों की अहम् भूमिका होती है। ये घटक ही जीव को गुणस्थान पथ पर आरूढ़ करने एवं रुचि के साथ इस पथ का दृढ़ राही बनाए रखने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

-अभिप्रेरक घटक (Motivators)

इस विचारधारा के प्रणेता प्रो. हर्जबर्ग का मानना है कि लक्ष्योन्मुख दिशा में आगे बढ़ाने व उसमें स्थिर चित्त करने तथा प्रेरणारूप सिद्ध होने में कुछ प्रमुख अभिप्रेरकों की अहम् भूमिका होती है। ये घटक हैं- उपलब्धियाँ, उपलब्धियों की मान्यता, चुनौतीपूर्ण कार्य-स्वरूप तथा सतत उन्नति एंव विकास।

गुणस्थानक विकास-य़ात्रा में ये घटक निश्चयरूप से अभिप्रेरक हैं यथा प्रथम दो घटक शुद्ध बाह्याचरण की दिशा में प्रेरणा स्वरूप हैं जबकि शेष अग्रिम आत्म् विशुद्धि की आन्तरिक उन्नति में। ये घटक उसकी साधना स्तर को ऊँचा उठाए रखने में मदद स्वरूप हैं। इसके अलावा अमेरिकन मनोविज्ञानी डगलस मेक्ग्रेकर ने मानवीय व्यवहार को संचालित करने वाली दो परस्पर विरोधी अभिप्रेरक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया है जिन्हें एक्स (x) और वाई विचारधारा (y) के रूप में जाना जाता है। अभिप्रेरक के प्रथम स्वरूप में आपने स्पष्टता की है कि यदि व्यक्ति पर अंकुश न रखा जाय या उसे डर अथवा भय न दिखाया जाय तो वह नियत कार्य को सम्पादित करने का अभिप्रेरण प्राप्त नहीं करता। अभिप्रेरक के द्वितीय स्वरूप में मेक्ग्रेकर ने उन लोगों को रखा है जो दण्ड या भय के स्थान पर प्रशंसा व उपलब्धि जनित सकारात्मक वृत्तियों से प्रेरित होकर लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ते जाते हैं।

जैनदर्शन के इस आध्यात्मिक विकास के संदर्भ में साधक जीवों की अभिप्रेरणा में दोनों ही वृत्तियों की भूमिका देखी जा सकती है। पापाचार के परिणामों तथा कषायादि की विपरीत परिणति से भयभीत होकर जीव सच्चे साधना पथ का अनुगामी होने की प्रेरणा प्राप्त करता है किन्तु यह प्रेरणा उपशम जैसे अस्थाई भाव वाली प्रतीत होती है। वातावरणीय संयोगो आदि के चलते ज्यों ही यह भय कम होगा त्यों ही पतन सुनिश्चत होगा। इसके विपरीत वाई (y) विचारधारा से अभिप्रेरित साधक अपनी आन्तरिक स्फुरणा के साथ लक्ष्य पथ पर कदम रखता है इसलिए उसमें दृढ़ता का प्रभाव अधिक होता है जो उसे क्षायिकत्व से सुसज्जित कर मंजिल पर पहुँचने तक अभिप्रेरित एवं आन्तरिक रूप से ऊर्जावान बनाए रखता है।

4. **व्यक्तित्व (Personality) -**

व्यक्ति का व्यक्तितव स्थापित अभिवृत्तियों व विश्वासों पर नियन्त्रण करता है यह सर्वथा सत्य नहीं हैं अपितु इनके मध्य पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य है (सी.टी. मॉर्गन)। व्यक्तित्व अर्थात् पर्सनलिटी। यह शब्द लेटिन भाषा के परसोना (Persona) से विकसित है जिसका अर्थ है- नकली चेहरा या मुखौटा (Mask)। यह एक बाहरी आवरण है जो दूसरों को प्रभावित करने के लिए धारण किया जाता है। मॉर्टन एवं प्रिंस का मानना है कि "व्यक्तित्व समस्त जन्मजात संस्थानों, आवेगों, झुकावों एवं मूल प्रवृत्तियों के अनुभवों द्वारा अर्जित संस्कारों व प्रवृत्तियों का योग है।" मन एन. एल. व्यक्तित्व को एक समुच्चय के रूप में देखते हुए स्पष्टता करते हैं कि "व्यक्तित्व एक व्यक्ति के पठन, व्यवहार, तकनीकों, रुचियों, दृष्टिकोणों, क्षमताओं व तरीकों का सबसे विशिष्ट संगठन है"

आलपोर्ट इस विषय पर अपने 50 बर्ष के अध्ययन के पशचात इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि-

व्यक्तित्व का विकास उसकी व्यवस्थापन क्रिया पर आधारित है। व्यक्ति की आवश्कताऐं एवं व्यवहार उसको लक्ष्य तक पहुँचाने में प्रेरक हैं। यदि लक्ष्य प्राप्ति में उन्हें एकाध बार असफलता मिलती है तो व्यक्तित्व के सम्यक विकास में बाधा पड़ती है। वह तब तक व्यवस्थित नहीं हो पाता जब तक उसकी इच्छाओं की दिशा को बदलकर संतुष्ट न कर दिया जाय। आन्तरिक व्यक्तित्व पक्ष की स्थितियाँ इस प्रकार भी हो सकती हैं-

1- विचार प्रधान (Thinking type) व्यक्तित्व

2- भाव प्रधान (Feeling type) व्यक्तित्व

3- तर्क बुद्धि प्रधान (Reasoning type) व्यक्तित्व

4- दिव्य दृष्टि प्रधान (Intuitive type) व्यक्तित्व

व्यक्ति उपरोक्त वर्णित विवरण व उसकी शाब्दिकता- परसोना या मुखौटा के दायरों से बाहर निकलकर समग्रता के परिप्रेक्ष्य में आन्तरिक एवं बाहय पक्षों के साथ व्यक्तित्व के

सैद्धान्तिक व क्रिया पक्ष की स्पष्टता करता है। सी. जी. जुंग व्यक्तित्व को निम्नवत स्वरूप में वर्गीकृत करतीं हैं-

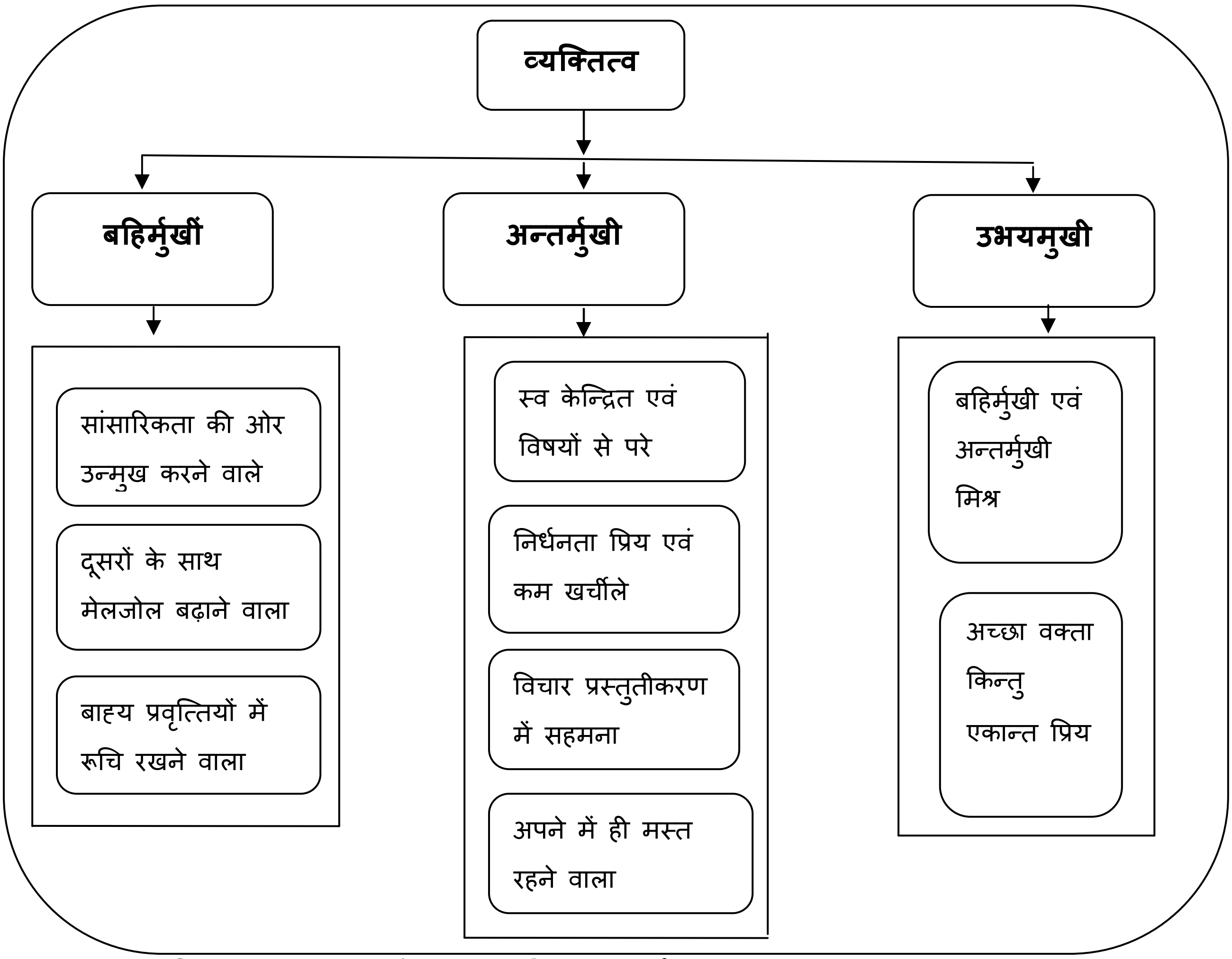

चित्र- सी. जी. जुंग का व्यक्तित्व वर्गीकरण

गुणस्थानक विकास यात्रा में एक ओर बाह्य प्रकटीकरण है तो दूसरी ओर अन्तर्मन समायोजन का मनोभावनात्मक चिंतन जो नियत ऊँचाइयों का स्पर्श कराने में अहम् भूमिका अदा करता है। व्यक्तित्व वास्तव में मनोदेहिक प्रकटीकरण है। लक्ष्य सिद्धि में इस अदृश्य शक्ति (मनोबल) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यक्तित्व से उसके कार्य करने की शैली, साहस, धैर्य व दृढ़ता आदि की स्थिति का भान होता है। गुणस्थान विकास यात्रा में व्यक्तित्व के विभिन्न घटकों की स्थिति का यथोचित प्रभाव देखा जा सकता है। प्रो. सी. जी. जुंग द्वारा स्पष्ट की गई व्यक्तित्व के स्वरूपों की तीन स्थितियाँ गुणस्थानक अवस्थाओं से साम्यता रखती प्रतीत होती हैं। अन्य शब्दों में यह कहना अधिक उचित होगा कि व्यक्तित्व के उक्त वर्णित स्वरूप उसे गुणस्थान की अलग-अलग स्थितियों मे ले जाने हेतु उत्तरदायी हैं यथा- बहिर्मुखी व्यक्तित्व शुभाशुभ बाह्याचरण केन्द्रित हैं। अशुभाचरण मिथ्यात्व व मिश्र

गुणस्थान में ले जाता है वहीं शुभाचरण चौथे- पाँचवे गुणस्थान तक पहुँचाने में सहायक है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व स्व-केन्द्रित अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हुए साधक को साध्य तक पहुँचाने में सहायक है। इसका प्रभाव सातवें से ऊपर के गुणस्थानों में देखा जा सकता है जबकि उभयमुखी व्यक्तित्व जो इन दोनों का मिश्र स्वरूप है इसके प्रभाव में जीव पाँचवे- छटवे गुणस्थानों में गति कराता है।

सिगमंड फ्रायड का मनेवैज्ञानिक विश्लेषण व्यक्तित्व की इस तरह स्पष्टता करता है-

व्यक्तित्व

↓

'इड' (Id) → ईगो (Ego) → तथा सुपर ईगो (Super Ego) का समायोजन है।

'इड' अचेतन मन है जिसमें मूल वृत्तियाँ व नैसर्गिक इच्छाऐं रहती हैं। 'इगो' चेतना, इच्छाशक्ति, बुद्धि तथा तर्क का प्रतिनिधिपूर्ण संयोजन है एवं 'सुपर इगो' व्यक्ति के जीवन की आदर्श स्थिति है। ये स्थितियाँ गुणस्थानक अवस्थाओं में जीव के परिणामों की दिशा का निर्धारण करती हैं। आर. बी. कैटल स्पष्टता करते हैं कि "व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में जो भी कार्य करता है उसका प्रतिरूप ही व्यक्तित्व है" व्यक्ति के चरित्र निर्माण में निम्न घटक उत्तरदायी हैं-

भावनात्मक एकता (Emotional integration) , सामाजिक घटक (Sociability), कल्पनाशीलता (Imaginative), अभिप्रेरण (Motivation), उत्सुकता (Curiosity)।

कैटल द्वारा वर्णित चरित्र निर्माण के कुछ घटक भी साधक की आन्तरिक सुदृढ़ता बढ़ाने में सहायक हैं यथा- अभिप्रेरण व उत्सुकता जो उसे उन्नतोन्मुख करती है जबकि लापरवाही अथवा अनदेखी उसे पतोन्मुखी बनाती हैं। कैटल ने व्यक्तित्व गुणों के सारभूत 12 विभाग किए हैं।

1- चक्र विक्षिप्त (Cyclothymia)- ऐसा व्यक्तित्व भावुक तथा अपने विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति वाला होता है।

2- सामान्य मानसिकशक्ति (General Mental Capacity)- सामान्य स्तरीय बुद्धिमान।

3- प्रशासक(Dominance)- आत्म विशुद्धि व झगड़ालू प्रवृत्ति वाला।

4- प्रसन्न मुख(Surgency)- आत्मविश्वासु ,हर्ष, बुद्धि आदि प्रसन्नतादायक गुणों से सम्पन्न।

5- धनात्मक चरित्र(Positive Character)- दूसरों की बातों पर अधिक ध्यान देने वाला ।

6- संवेगात्मक परिपक्वता(Emotional Stable)- इनमें अस्थिरता नहीं होती।

7- साहसी चक्र विक्षिप्त(Adventure Cyclothymia)- ये व्यक्ति साहसी मिलनसार तथा भिन्न लिगं में रुचि लेने वाले होते हैं ।

8- परिपक्व(Mature)- यह परिपक्व, स्वतन्त्र एंव स्वयं में पूर्ण होता है।

9- सामाजिक सांस्कृतिक(Socialized Cultured)- कलापारखी।

10- विश्वासी (Trustworthy)- विश्वासी व कृतज्ञ।

11- अपारम्परिक(Unconventional)- समय के साथ विद्रोह करने वाले।

12- विनीत(Sophistication)- तर्कपूर्ण व शान्त प्रकृति के एकान्त प्रिय होते हैं।

उपरोक्त को यदि गुणस्थानक स्थितयों के साथ संयोजित करें तो स्पष्ट होता है कि प्रशासक व चक्र विक्षिप्त व्यक्तित्व गुणधारी मिथ्यात्व के प्रेरक हैं, प्रसन्न मुख व धनात्मक चरित्र वाले सद् आचरणी गृहस्थ होते हैं, परिपक्व-विश्वासी तथा अपारम्परिक व्यक्तित्व वाले जीव उच्च नैतिक चरित्रयुत योग्यताओं को धारण करके कषायादि प्रवृत्तियों के नाशक बनते हैं और विनीत व्यक्तित्व के धारक साधना की चरम स्थिति के अधिकारी बन जाते हैं।

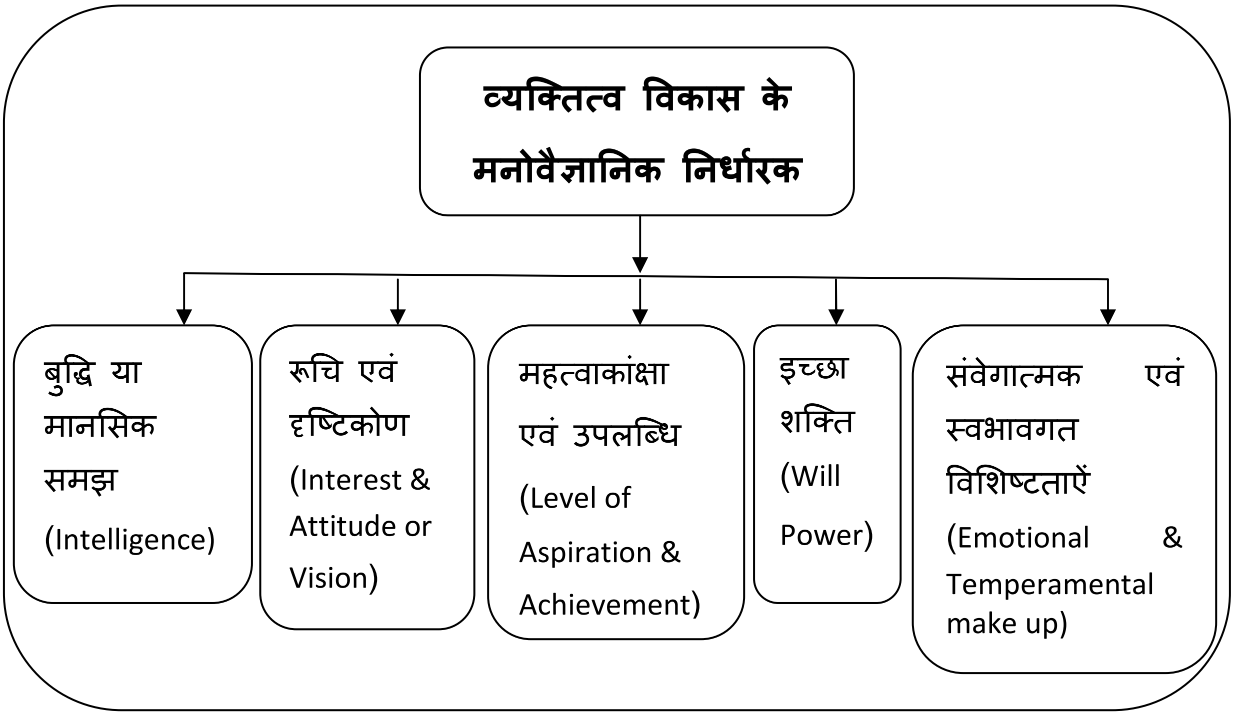

चित्रः- **व्यक्तित्व विकास के मनोवैज्ञानिक निर्धारक**

बुद्धि या मानसिक समझ व्यक्तित्व विकास का वह आंतरिक पहलू है जो तर्क और विवेक की स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। यह घटक सम्यक्त्वी व मिथ्यात्वी बोध के लिए जिम्मेदार है और इसी पर आचरण की दिशा निर्भर होती है। यदि व्यक्ति महत्वाकांक्षी नहीं है तो वह कुछ भी करने के लिये अभिप्रेरित नहीं होगा उसका व्यक्तित्व पूर्णतः निकम्मा, आलसी, सुस्त और भाग्यवादी के रूप में ही उभरेगा। जबकि दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्ति संवेगात्मक रूप से परिपक्व, विवेकपूर्ण, निर्णायक व धैर्यवान होते हैं। इसके विपरीत कमजोर इच्छाशक्ति वाला सदैव असमंजस की स्थिति में रहता है। संवेगात्मक परिपक्वता के अनुरूप

ही भावनाओं, आदतों, विचारों व स्थायी भावों का विकास होता है। क्रोधी, ईर्ष्यालु व शान्त स्वभाव आदि मनोभाव इसी आधार पर निर्मित होते हैं।

रुचि वह अभिप्रेरक शक्ति है जो हमें किसी व्यक्ति वस्तु या क्रिया की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करती है।

व्यक्तितव विकास के इन मनोवैज्ञानिक घटकों का संकलित संयोजन उसकी छवि व आध्यात्मिक विकास की दिशा, गति व दशाओं का निर्धारक है। ये घटक यह तय करने में सक्षम हैं कि वह आध्यात्मिक उच्चता की ओर अग्रसर हो सकेगा (क्षायिकत्व के साथ) या विपरीत संवेगात्मक प्रवृत्तियों के चलते (उपशम के पश्चात पुनः उदय का कारक) पतोन्मुख हो जायेगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुणस्थान अध्ययन के मनोवैज्ञानिक पक्ष में व्यक्तित्व तत्त्व की अहम् स्थिति है।

5. संवेग (Emotion)-

संवेगों पर मानसिक क्रियाएं संचालित होती हैं तथा यह व्यक्ति की सोच व व्यवहार दोनों में परिलक्षित होता है। समन्वित विकास के प्रतिमानों या समीकरणों के मध्य इसका अहम् स्थान है यथा-

विकास = बौद्धिक/मानसिक + संवेगात्मक + नैतिक/चारित्रिक + सामाजिक ।

यहाँ सामाजिक विकास के अवयवों का स्पष्टीकरण करने पर संवेगों की भूमिका और अधिक खुलकर सामने आती है जैसे – सामाजिक बोध (Social perception), प्रतिरोधी व्यवहार (Resistant behaviour), लड़ाई-झगड़े (Fight-quarrels), सहानुभूति (Sympathy), प्रतिस्पर्धा(Competition) एवं सहयोग(Cooperation)। मनोवैज्ञानिकों ने अंतरमन से जुड़े प्रमुख संवेगों को अपने-अपने तरीकों से वर्गीकृत किया है यथा गिलफोर्ड के अनुसार भय, क्रोध, वात्सल्य, घृणा, करुणा-दुःख, आश्चर्य, आत्महीनता, आत्माभिमान, एकाकीपन, कामुकता, भूख, अधिकार भावना, कृतिभाव एवं आमोद आदि हैं। गेट्स इन्हें पाँच भागों में वर्गीकृत करते हैं - भय, क्रोध, प्रेम, दया और कामुकता। डॉ. महेन्द्र मिश्रा विकासात्मक मनोविज्ञान में लगभग उपरोक्त को संयोजित करते हुए प्रमुख संवेगों का अध्ययन निम्न लिखित बिन्दुओं के माध्यम से करते हैं-

1. **जिज्ञासा(Curiosity)-** जिज्ञासा समस्त ज्ञान की जननी है ऐसा प्लूटो का मत है। जिज्ञासा के साथ आश्चर्य का संवेग भी जुड़ा होता है। इसके प्रति उदासीनता शारीरिक व मानसिक विकास के लिए हितकर नहीं होती। शारीरिक भय या पीड़ा नामक संवेग जिज्ञासा

शान्ति की दिशा में अहम् हैं। यही भय उसे आध्यात्मिक पथ का साधक बनाने में क्रियाशील बनाता है।

2. **भय (Fear)-** भय पलायन मूलवृत्ति का संवेग है। भय के कारण ही व्यक्ति आत्म-विश्वास खो बैठता है वहीं परिपक्वता इस संवेग के प्रभाव को कम करती है। प्रशंसा और पुरुस्कार भी भय को शिथिल कर दते हैं। भय कभी–कभी इन चीजों को लेकर होता है जिनका अस्तित्व ही नहीं होता। जैन दर्शन की दृष्टि से देखें तो यह संवेग जीव को पाप वृत्तियों से दूर करता है और शनैः – शनैः शुभाशुभ कार्यों से शुद्धाचरण में रत करता है। भय से मुक्ति(शिक्षण द्वारा) अनिवार्य है।

3. **क्रोध या आक्रमकता (Anger or combat)**- किसी क्रिया की संतुष्टि में जब बाधा उत्पन्न होती है तब सामान्य मनुष्य स्वाभाविक रूप से पशुवत होकर क्रोध का आश्रय लेता है। क्रोध का परिणाम लड़ाई तथा शारीरिक-मानसिक क्षति पर आकर पूर्ण होता है। प्रायः ईर्ष्या करना, तंग करना, झगड़ा करना एवं वैर भाव आदि आक्रमक व्यवहार के परिणाम हैं। क्रोध का आन्तरिक एवं बाह्य प्रकटीकरण जीव की गति प्रथम तीन मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में कराने का निमित्त बनता है, क्रोध का शमन जीव को 11वें गुणस्थान तक गति करा सकता है तथा क्रोध वृत्ति पर सम्पूर्ण नियन्त्रण उसे सम्यकत्व से ऊपर के गुणस्थानों में ले जाने में सहायक सिद्ध होता है।

4. **आत्म गौरव(Self-Assertion)**-इसका सम्बन्ध आत्म प्रदर्शन की भावना से है। यह मूल प्रवृत्ति के साथ जुड़ा संवेग है। इसके चलते जीव दूसरों का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित करने हेतु तरह–तरह की प्रवृत्तियों व आडम्बरों को आकार देता है। यह वास्तव में स्व के महत्व के प्रदर्शन जैसा है। सामान्य मानव यदि आत्म प्रदर्शन की भावना का दमन करता है तो उसमें आत्महीनता व दीनता आयेगी तथा चरित्र व व्यक्तित्व का विकास रुक जायेगा। इस तरह से कहा जा सकता है कि यह संवेग जीव की आध्यात्मिक उन्नति व अवनति का कारक है।

5. **रचनात्मकता (Constructiveness)-** किसी वस्तु की रचना व विद्यमानता की स्थिति में परिवर्तन करने की वृत्ति का उदय रचननात्मक संवेग का परिणाम है। इसका उद्देश्य सतत कुछ न कुछ करते हुए अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करना है। जैन दर्शनयुत आध्यात्मिक विकास क्रम में यह संवेग पुरुषार्थपूर्ण प्रयास व सकाम निर्जरावृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

6. **प्रेम (Love)-** यह एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक संवेग है। इसके परिणाम स्वरूप जब व्यक्ति किसी के प्रति आसक्ति या प्रेम रखता है तो आनन्द की अनुभूति करता है। प्रेम संवेग में अतयन्त कम और अत्यधिकता दोनों ही स्थितियां घातक सिद्ध हो सकती हैं इसलिए दोनों के मध्य संतुलन अनिवार्य है। प्रेम एक जटिल संवेगात्मक अवस्था है यह स्वार्थमूलक व

परमार्थमूलक(मानवतावादी प्राणिमात्र के प्रति प्रेम) होता है । गुणस्थानक की परमानन्द स्थित की प्राप्ति इस संवेग के अभाव में संभव नहीं है।

7. **ईर्ष्या (Jealously)-** स्नेह के टूटने का क्रम या कम होने का भय ईर्ष्या संवेग की प्रतिक्रिया है। यह क्रोध की उपशाखा है। ईर्ष्यालु व्यक्ति सदैव अपने को असुरक्षित महसूस करता है। इसकी अभिव्यक्ति अन्य के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से होती है। ईर्ष्या के प्रति उद्दीपन(Stimulus) है- किसी प्रेम करने वाले व्यक्ति के व्यवहार का आपके प्रति अचानक बदल जाना। यहाँ प्रतिस्पर्धा की भावना प्रेम, साहस, प्रशंसा या सहानुभूति की जगह ईर्ष्या को जन्म देती है। कभी-कभी इसकी परिणति केंकड़ावृत्ति के रूप में होती है जो न तो खुद ऊपर उठती है और न ही दूसरों को ऊपर उठने देती है। स्वयं को ऊँचा व अन्य को नीचा दिखाने की ललक इस वृत्ति को उत्तेजित करने में कारणभूत है। ईर्ष्या की परिणामजनित प्रतिक्रिया निम्न रूपों में दृष्टिगत होती है- सीमातीत विरोध, विरोधी भावों की पहचान, दमनात्मक प्रवृत्ति का विकास तथा रचनात्मकता में अवरोध आदि। ईर्ष्या वातावरणीय परिस्थितियों पर निर्भर है ईर्ष्यात्मक व्यवहार वर्तमान व भावी वातावरण को दूषित बनाते हैं। आध्यात्मिक विकास की ओर आरोहण में यह संवेग बाधक व घातक ही सिद्ध होता है।

8. **आनन्द एवं सुख (Pleasure & Joy)**-यह संवेग किसी वस्तु या क्रिया से सुख या आनन्द की अनुभूति कराने वाला है। गुणस्थानक विकास यात्रा में इस संवेग की क्रियाशीलता प्रकट होती है- उत्कृष्ट श्रावक से मुनि बनने के अवसर अथवा ध्यानादि के लिए अधिक समय मिल जाने के रूप में। आनन्द की अनुभूति स्मित, मुस्कान, खिलखिलाहट, उनमुक्त हँसी व असीम संतुष्टि आदि के रूप में होती है।

संवेग पर नियनत्रण की विधियां (Methods of Control on Emotions)

जरशील्ड की अवधारणा है कि यदि कोई संवेग परिपक्व हो जाय तो उसमें संशोधन करना कठिन हो जाता है। इसके नियन्त्रण की कुछ विधियां इस प्रकार हैं-

1. **दमन (Repression)**-यह संवेगात्मक नियन्त्रण की वह विधि है जिसमें साधक इन्हें भूलने या मन से निकालने का प्रयास करता है।

2. **अभिव्यक्ति (Expression)**-यह विधि मार्गान्तीकरण भी कहलाती है। इसके द्वारा संवेग को समाज के स्वीकृत ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।

3. **अध्यवसाय (Industriousness)-** इस विधि में साधक संवेग के प्रभाव को निष्प्रभ करने हेतु स्वयं को अन्य कार्यों में व्यस्त रखता है ताकि अवांछित संवेगों की अभिव्यक्ति को अवकाश ही न मिले।

4. **विस्थापन(Displacement)-** इसे आरोपण पद्धति के रूप में भी जाना जाता है। इसमें संवेगों को अन्य तथ्यों पर आरोपित किया जाता है।

5. **प्रतिगमन(Regression)-** जब संवेगों का आरोपण असामान्य व्यवहार से होता है तो वह अन्य वस्तु को नष्ट कर तनाव कम कर लेता है यह प्रतिगमन क्रिया है।

6. **संवेगात्मक रेचन(Emotional Catharsis)-** इसमें शामित (Repressed) संवेगों से मुक्ति पाने का प्रयास किया जाता है। स्वाध्याय, पठन-पाठन व मंदिर आदि में जाना तथा शारीरिक क्रियाओं के द्वारा इसे संभव बनाया जाता है।

समीक्षा-

संवेग या वैराग्य आत्मिक उन्नति के उद्दीपक कहे जाते हैं। शल्य भी मन का विषय है इसके अभाव में केवल ज्ञान संभव नहीं है। शल्य तीन प्रकार की होती है-

1. कपट, ढोंग, ठगीवृत्ति 2. भोगों की लालसा का निदान तथा 3. मिथ्यादर्शन। ये मानसिक दोष मन और तन दोनों को कुरेदते रहते हैं। जो शल्य रहित है वही व्रती हैं उसके बाद भौतिक-अभौतिक पदार्थों के प्रति मूर्छा या आसक्ति समाप्त हो जाती है। आत्मा अमूर्तिक चैतन्य रूप एवं उपमा रहित है। क्रोधादि संवेगों की उपस्थिति से कषायों का वेग तीव्र होता है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव मानसिक दृष्टि से कषायादि से पीड़ित रहता है और वासनात्मक प्रवृत्तियों के हावी रहने से शुद्धाचरण से विलग रहता है। संवेगों की तीव्रता व मनोवृत्तिक झुकाव(वासनात्मक आसक्ति) तथा दृढ़ता का अभाव (सम्यकत्वी अस्थिरता) होने से जीव सम्यकत्व गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान तक पहुँचता है।

मिश्र गुणस्थान में जीव की अधर-झूल जैसी अनिर्णय व अनिश्चय की स्थिति रहती है। यह मन की चंचलता ही तो है जो सम्यकत्वी शिथिलता पैदा करती है। मनोविश्लेषण स्पष्ट करता है कि यहाँ वासनात्मक इड (id) और आदर्श (Super ego) के मध्य आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है हालांकि इसकी अवधि अन्तर्मुहुर्त प्रमाण (48 मिनट) ही होती है फिर भी इस दौरान यदि वासनात्मक पक्ष प्रबल हो जाता है तो वह मिथयात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तथा आदर्श की ओर रुझान होने पर वह पुनः सम्यकत्व में लौट जाता है। व्यक्तित्व विकास की दृढ़ता व परिपक्वता उसके संघर्ष विजय में अहम् भूमिका निभाती है।

तृतीय गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती जैन दर्शन में उल्लखित इस विधान का भी मनोवैज्ञानिक आधार है यथा डॉ. कलघाटगी के मतानुसार- मृत्यु और संघर्ष की चेतना दोनों का सह-अस्तितव संभव नहीं है। मृत्यु के समय में जीव मिथ्यात्व या सम्यकत्व में से किसी एक स्थिति को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान की अल्पावधि का भी यह एक तार्किक आधार हो सकता है कि सामान्यतया कोई भी व्यक्ति लम्बे समय तक संशय या अनिश्चय की

स्थिति में नहीं रह सकता। निश्चय ही वह अपनी रुचि व प्रेरणात्मक वातावरण का सहारा लेकर दोनों में से किसी एक दशा का अपना लेता है।

चतुर्थ गुणस्थान में साधक की मनोदशा में सम्यकत्व श्रद्धान के प्रति दृढ़ता तो होती है किन्तु आचरण पथ पर अनुगमन का साहस एवं वातावरण उपलब्ध नहीं होता। यहाँ संकल्प-विकल्प रूपी चंचलता (उत्थान-पतन दोनों संभावनाऐं) विद्यमान रहती है। हाँ नियति की प्रधानता होने के बावजूद यदि जीव थोड़ा सा पुरुषार्थ लक्ष्य-दिशा में कर लेता है तो वह क्षय, उपशम या क्षयोपशम को ग्रहण करते हुए सदाचारी बन जाता है। वास्तव में समस्या मैं-मैं की है। विकास क्रम में इससे परे हटते हुए हम की ओर बढ़ना होता है किन्तु यह भी मुक्ति का साधन नहीं है इसके लिए निर्विकल्पी होना पड़ता है। आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया में यह ग्रंथि भेद दो प्रकार से होता है-

1. **यथाप्रवृत्तिकरणः-** संयोगजनित वातावरण पाकर स्व की तरफ यथार्थ बोध तथा यथार्थता को सिद्ध करने हेतु मानसिक तैयारी व दृढ़ता का नाम ही यथाप्रवृत्तिकरण है।

2. **अपूर्वकरणः-** सोचे हुए यथार्थ मार्ग पर चलने के साहस का नाम है अपूर्वकरण जहाँ आत्मा जड़ प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है। मनोविज्ञान की भषा में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि चेतन अहम् (ego) वासनात्मक अहम्(id) पर जय करते हुए धीरे धीरे आदर्श(super ego) की ओर बढ़ता है। यह स्थिति उसे आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में अपूर्व शान्ति के रूप अनुभूत होती हैं।

आदर्श पथ पर अनुगमन का आरम्भ अणुव्रती या देशव्रती श्रावक के रूप में होता है इसमें क्रोधादि वृत्तियों पर नियंत्रण का अभ्यास साधक 5वें-6वें और 7वें गुणस्थानों में करता है इसमें अभी भी बाह्याचरण व पुण्य रूप शुभ वृत्तियों का सहारा लिया जाता है। इस परिशोधन प्रक्रिया(4मास का समय) में यदि दृढ़ता कायम रहती है तो विकास होगा अन्यथा पतन निश्चित है क्योंकि आन्तरिक अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण न होने से ये प्रमादवश होने वाली वासनात्मक वृत्तियां उसके अन्तर-मन को झकझोरती रहती है। नियति बनाम पुरुषार्थ की दृष्टि से देखें तो 1-7 गुणस्थान तक नियति अर्थात् संयोगों की प्रधानता रहती है किन्तु यहाँ पुरुषार्थ का भाग अति अल्प होता है। 7वें गुणस्थान के उत्तरार्ध से 8वें गुणस्थान में दुष्प्रवृत्तियों से लड़ने हेतु वह शक्ति संचय का प्रयास करता है। इसीलिए आगे गुणस्थानों में अथक मनोबलयुक्त पुरुषार्थ अपरिहार्य होता है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से ऊपर की स्थितियां (8-14 गुणस्थानों तक) मात्र आचरण खेल नहीं रह जाती अपितु मनोबल रूपी नैतिक दृढ़ता व परिपक्व विश्वास का सवाल बन जाती है जहाँ भावनाऐं लक्ष्य सिद्ध (आत्म विशुद्धि) को यथोचित आकार प्रदान करती हैं। 8वें से पूर्व के गुणस्थानों तक वह आगे की

ओर अभिप्रेरित होने हेतु कमोवेश वातावरणीय अनुकूलता का मुहताज था किन्तु अब ऊपर के गुणस्थानों में वह वातावरण को अपने अनुकूल करने में सिद्धहस्त कर्मयोगी बन जाता है तथा अंतिम आनन्द स्वरूप दशा में वह निष्कामपने को धारण कर लक्ष्ययुत हो जाता है। कर्म क्षय की तीन उपलब्ध पद्धतियों (क्षय, उपशम व क्षयोपशम) में से किसी एक की पसंदगी भी मन की दृढ़ता व परिपक्वता का ही विषय है क्योंकि गुणस्थानों में चढ़ते जाना या फिर चढ़कर गिरना इसी मनोस्थिति की ही फिदरत है। 9वें- 10वें गुणस्थान में अधिकांश कषायादि परिणामों पर जय पाकर अंतिमावस्था में पहुँचना तय सा हो जाता है (यदि उसने उपशम का सहारा नहीं लिया हो) शेष बचे सूक्ष्म लोभ की तुलना डॉ. टाटिया अवचेतन शरीर के प्रति रहे हुए राग के अर्थ में करते हैं। संकल्प-विकल्प रहित मानसिक तैयारी की मानसिकावस्था क्षीणमोह नामक 12वें गुणस्थान से तुलनीय है। मॉस्लो की आवश्यकताक्रम अभिप्रेरण विचारधारा के अनुसार भी स्व की मंजिल की ओर प्रयाण का यह एक परिपक्व आखिरी मुकाम है । इसके बाद देह अस्तित्व के कारण योग बन्ध तो होता है किन्तु क्षणिक। यह आध्यात्मिकता को भोगने की स्थिति है। योग निरोध व मानसिक चंचलता का अभाव स्थिरता पूर्ण शुक्ल ध्यान की अवस्था का पर्याय है 14वाँ अयोग केवली गुणस्थान जहाँ शिवपद ब्रह्म या मोक्ष से आत्मा का मिलन होता है।

*****

अध्याय - 9

गुणस्थान का तुलनात्मक विवेचन

विश्व के प्रमुख आध्यात्मिक दर्शनों से जुड़ी अवधारणाऐं एवं गुणस्थानकों से उनकी तुलना-

जैन दर्शन में वर्णित गुणस्थान सिद्धान्त की अन्य धर्मों में वर्णित स्वरूपों की स्थिति अथवा समान ध्येय सिद्धि हेतु उल्लिखित व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक है कि गुणस्थान सिद्धान्त की मंशा व स्वरूप का सामान्य अवबोधन कर लिया जाय ।

जैन दर्शन - जैन दर्शन का दूसरा नाम आर्हत है अर्थात जो सर्वज्ञ, राग-द्वेष रहित, त्रैलोक्यपूजित, यथास्थितार्थवादी व सामर्थ्यवान सिद्ध पुरुष हैं।

सर्वज्ञो जीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः। यथास्थितार्थवादी च देवोर्हत्परमेश्वरः।।

मुक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः। प्राहुमेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह ।।

संसार में सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई भी वस्तु नहीं है । इसी से स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रार्दुभाव हुआ जिसे सप्तभंगी नय कहा जाता है। ये नय इस प्रकार हैं-

(1) **स्याद् अस्ति**- किसी अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान है।

(2) **स्यान्नास्ति-** किसी अपेक्षा से कोई वस्तु विद्यमान नहीं है।

(3) **स्यादस्ति च नास्ति च-** किसी अपेक्षा से कोई वस्तु एक साथ विद्यमान व अविद्यमान दोनों है।

(4) **स्याद् अव्यक्तव्यम**- किसी अपेक्षा से कोई वस्तु वर्णनातीत है।

(5) **स्यादस्ति अव्यक्तव्यम्-** किसी अपेक्षा से कोई वस्तु अविद्यमान है और किसी अपेक्षा से कोई वस्तु का रूप निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है।

(6) **स्यान्नास्ति अव्यक्तव्यम् च-** किसी अपेक्षा से कोई वस्तु का रूप है भी तथा वह अव्यक्त भी है।

(7) **स्यादस्ति च नास्ति च अक्तव्यम् च-** किसी अपेक्षा से कोई वस्तु एक साथ विद्यमान व अविद्यमान दोनों है और किसी अपेक्षा से कोई वस्तु का रूप निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है।

जैन दर्शन में कर्म के बन्धन और कर्म के विच्छेद को लेकर मुख्य सात तत्त्वों को माना गया है- जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। इस दर्शन में दो ही प्रमाण मान्य

है- प्रत्यक्ष और अनुमान। ईश्रर के सम्बन्ध में जीव ही अर्हत् पद को प्राप्त करने पर ईश्वर पद को ग्रहण कर लेता है। वे अलग ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानते।

गुणस्थान जीव की आध्यात्मिक विकास यात्रा के सोपानों की स्थिति का एक विश्लेषण है जिसकी मान्यता है कि जैसे-जैसे जीव ऊपर के सोपानों में आरोहण हेतु विशुद्धतर या विशुद्धतम नैतिक-चारित्रिक विशुद्धतायुक्त पुरुषार्थ करता है वैसे-वैसे वह अंतिम ध्येय निर्वाण या मोक्ष के निकट पहुँचता है और इस यात्रा के उच्चतर मुकामों पर उसे अलौकिक आध्यात्मिकता की सुखद अनुभूति होती है। यहाँ निर्वाण या मुक्ति की कल्पना जीव की समस्त कर्मों से मुक्ति, संकल्प-विकल्प रहित उसके निज स्वरूप में लौट आने से की गई है। जैन दर्शन में इस विकास यात्रा के चौदह चरण हैं जिसमें आरोहण, पतन, विकास एंव कर्म रहित होने की विभिन्न पद्धतियों को लेकर नियत व्यवस्थाओं का निर्देश है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस सिद्धान्त की तुलना किसके साथ की जा सकती है तो संभावित उत्तर प्राप्त होता है कि जिन दर्शनों में आत्मा के आध्यात्मिक विकास, नैतिकता, आचरण की शुद्धता, आत्मा एंव कार्य, निर्वाण- मुक्ति या शिवपद की धारणाओं का समावेश है उसके सोपानों, अंतिम मुकाम तक पहुँचने के मार्गों और कर्म पद्धति में किस हद तक समानता है और कहाँ असमानता दृष्टिगोचर होती है इन तार्किक आधार पर विश्लेषण करना ही तुलनात्मक विवेचन कहा जा सकता है।

(अ) <u>गीता और गुणस्थान सिद्धान्त</u>

भूमिका-

"किसी ग्रंथ का मनुष्य के मन पर कितना अधिकार है, उसे उस ग्रंथ की कसौटी समझा जाय तो कहना होगा कि गीता भारतीय विचारधारा में सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रंथ है"।

- डॉ. राधाकृष्णन

गीता हिन्दू साहित्यक संस्कृति का एक प्रमुख ग्रन्थ है। यह समुच्चय है व्यक्तित्व, श्रद्धा, बुद्धि, कर्म, नैतिक आचरण एवं आत्म विशुद्धि के अवबोधन का। इसमें जीवन दृष्टि और आचरण के वे विश्लेषणत्मक आयाम निहित हैं जो सांसारिक जीव की स्थिति व गति का दिग्दर्शन कराते हैं। जीव के आध्यातिमक अथवा आत्मिक उन्नति की मंजिल तीन पायदानों के आसपास जीव रहता है। वह वर्तमान में कहाँ पर है और उसका आत्म विशुद्धि पर क्या प्रभाव होता है इसका विवेचन गीता में मिलता है जिसे जैन दर्शन के गुणस्थान अभिगम में विश्लेषित किया है। गीता में वर्णित ये तीन चरण निम्नवत् रूप स्थिति को समझाते हैं- जीव शुद्धाचरण का ज्ञान ही न रखता हो, उसे अच्छे बुरे का ज्ञान तो हो किन्तु शुद्धाचरण में लीन न हो तथा अंतिम स्थिति जिसमें विशुद्ध ज्ञान व आचरण का धारक होकर आत्मिक अनुभूति की ओर बढ़ाता हो। गीता में सैद्धान्तिक तौर पर **तमोगुण- रजोगुण- सत्वगुण** तीन स्थितियों के माध्यम से संसारी जीव की आध्यात्मिक विकास की कसौटी का विधान किया गया है। ये तीनों स्थितियाँ विषय भोगों में आसक्ति, कर्म प्रधानता और नैतिक परिशुद्धता के रूप में **<u>त्रिगुण सिद्धान्त</u>** के रूप में मान्य हैं। इस अंतिम चरण के बाद समस्त गुण स्थितियों की शून्यता होने पर निजात्म या मोक्ष की प्राप्ति की अनुभूति होती है। डॉ. प्रमिला जैन ने अपनी प्रकाशित शोधकृति **षट्खण्डागम में गुणस्थान विवेचन (आध्यात्मिक विकासक्रम)** (के पृष्ठ सं. 247-255) में गीता और गुणस्थान के तुलनात्मक विश्लेषण में स्पष्ट किया है कि गीता और आध्यातमिक विकास की चार अवस्थाऐं.(गीता 2 । 43 । 44) हैं-

तमोगुण ⟶ रजोगुण ⟶ सत्व गुण ⟶ गुणातीत अवस्था।

गुणस्थान में वर्णित 14 स्थितियों की यदि इन उर्युक्त तीन अवस्थाओं से तुलना करें तो यह कहा जा सकता है प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थान(मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र) में तमो व रजो गुण अवस्थाऐं रहती हैं। चौथे से सातवें गुणस्थान (सम्यकत्व,देशविरत, प्रमत्तसंयत एवं अप्रमत्तसंयत) तक सत्व गुण अवस्था रहती है। गुणातीत अवस्था आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक हो सकती है।

(अ) तमोगुण- जो जीव की निष्क्रियता, जड़ता और अज्ञान का द्योतक है। तमोगुणी व्यक्ति के संदर्भ में गीता का कथन है- **आयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः नैष्कृतिकोलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।। 8। 28।।** यहाँ इस सूक्ति में वर्णित लक्षणों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

आयुक्त- जिसके मन और इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं व श्रद्धान तथा आस्तिकता का अभाव है।

प्राकृत- जिसे अपने कर्तव्य का कुछ ज्ञान नहीं है।

स्तब्ध- जो धनादि का मद करने वाला है।

शह- जो धूर्त हेयोपादेय, विवेकशून्य दूसरों की आजीविका हरने वाला है।

आलस- जिसकी इन्द्रियों व अंतःकरण में आलस भरा हुआ है।

विषादी – निराशा और चिन्ता में डूबा रहने वाला।

दीर्घसूत्री- कार्यों को भविष्य पर टालने वाला, स्थगित करने वाला।

गीता के महानायक भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को संबोधित करते हुए आगे कहते हैं- **अधर्म धर्ममति या मन्ते तमसा वृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिसा पार्थ तामसी ।। 18। 32 ।।** इसका अर्थ है कि हे अर्जुन ! जिसकी बुद्धि अज्ञानमय अंधकार से भरी हुई है, अधर्म को धर्म मानकर सभी अर्थों को विपरीत देखती है या मानती है वह तामसी है।

<u>तामसी पकृति के लक्षण</u>-

तामसी पकृति के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि **मोघाशा मोघाकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसी मासुरी चैव प्रकृति मोहनी श्रिता ।।9।12।।** इस सूक्ति का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है- **मोघाशा-** व्यर्थ की आशा करने वाले।

मोघकार्माण- व्यर्थ के कार्य करने वाले अर्थात श्रद्धा रहित दान पूजा व तपश्चरण करने वाले।

मोहज्ञान- तात्विक अर्थ से शून्य ज्ञान वाले।

विचेतस- विक्षिप्त चित्त और विषय वासनाओं में रहने वाले ये सभी राक्षसी आसुरी और मोहनीय प्रकृति वाले जीव तामसी प्रकृति के धारक माने जाते हैं।

<u>तामसी प्रकृति का प्रभाव</u>-

तामसी प्रकृति का क्या प्रभाव होता है इसकी स्पष्टता निम्नलिखित सूत्र में मिलती है- **एतां दुष्टिमउष्टभ्य नष्टात्मनोल्प बुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्मणः क्षयायः जगतो हिताः।।6।9।।** अर्थात् मिथ्याज्ञान का आलम्बन करने वाले आसुरी प्रकृति वाले अपनी आत्मा को नष्ट करने वाले तथा क्रूर कार्य करने वाले समस्त व्यक्ति सारे लोक के लिए अहितकारक व सर्वनाश के निमित्त होते हैं।

(ब) <u>रजो या राजसी गुण</u>-

भौतिकवादिता या भोग विलास की लालसा तृष्णा और इसकी प्राप्ति हेतु संघर्ष प्रेरित एवं अनिश्चय से भरी हुई जीवन की स्थिति। गीता के अध्याय 18 श्लोक 6 में भी इसी विचार की पुष्टि की गई है। राजसी गुणों को आगे निम्न श्लोकों के द्वारा समझाया गया है- **रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मको शुचिः। हर्षशोकाविन्तः कार्य राजसःपरिकीर्णतः।।18।27।।** इसका अर्थ इस प्रकार है- राज वासनाओं में राग रखने वाले को भी सदा अपने कर्म फल की आकांक्षा करने वाला हिंसात्मक प्रवृत्ति वाला अपवित्र सदा ही हर्ष- शोक से प्रभावित व्यक्ति राजसी प्रकृति वाले माने जाते हैं।

<u>राजसी प्रकृति के लक्षण</u>-

गीता में इन लक्षणओं को इस सूक्ति के माध्यम से स्पष्ट किया है- **ध्यायतोविषयान्पुन्सः संग्स्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोमिजायते।। 2। 62।। क्रोधोद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्विनाशो बुद्विनाशात्प्रणस्यति।। 2। 63।।** जिसका अर्थ है कि विषयध्यान परिग्रह में आसक्ति बढ़ाने वाले होते हैं। आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह तथा सम्मोह से स्मृति विभ्रम हो जाता है। स्मृति विभ्रम से बुद्धि नाश हो जाती है और बुद्धि के नष्ट होने से मनुष्य का नाश हो जाता है।

राजसी प्रकृति की परिणति- गीता में राजसी प्रकृति की लाक्षणिकताओं का विस्तार करते हुए उसके प्रभावों को प्रक्षेपित कर निम्न सूक्ति के माध्यम से स्प्टता की गई है- **अज्ञश्चाश्रद्दघानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। 4। 40।।** जिसका अर्थ- है कि जिसमें सत्य-असत्य, आत्म-अनात्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य के मध्य विवेकपूर्ण निर्णय करने की शक्ति नहीं है अर्थात् जो अज्ञ है एवं जिसे पाप-पुण्य कर्मफल व स्वर्ग मोक्षादि में संशय है वे अश्रद्धालु हैं इन्हैं परमार्थभ्रष्ट माना जा सकता है।

गुणस्थान के साथ तुलना की दृष्टि से राजसी व तामसी गुण मिथ्यात्व गुणस्थान में गर्भित माने जा सकते हैं।

(स) <u>सत्त्वगुण</u>-

यह स्थिति आध्यात्मिक नैतिक आदर्श आचरणों को समाहित करते हुए जीवन के उच्चतम ध्येय की स्थिति में आधारभूत स्तम्भ की तरह है। इन गुणों से युत होकर जीव अपना आध्यात्मिक उत्थान का सच्चे सुख का अहसास करता है। यह गुण चरम परिणति की साधना का शुद्ध साधन है। सात्विक कर्ता व कर्म की व्याख्या करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- **नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तसात्विक मुच्चयते।। 18। 23।।** अर्थात गृहस्थ या संन्यासी जो राग-द्वेष आसक्ति रहित होकर कर्म फल की

आकांक्षा किए बिना अपने जिन नियत कर्तव्यों का निर्वाह करता है उन्हें सात्विक कर्म या गुण कहा जाता है। **जैन दर्शन के गुणस्थान अभिगम में ममत्व रहित निष्काम अणुव्रत व महाव्रत पालन की प्रक्रिया को चतुर्थ (उत्तरार्ध स्थिति) से सप्तम गुणस्थान तक दर्शाया गया है जो गीता में वर्णित सत्व अवस्था से मेल खाती है।**

टिप्पणी- 14 गुणस्थानों के अन्तर्गत आध्यात्मिक विकास की सूक्ष्मता व गहनता की दृष्टि से प्रत्येक गुणस्थान में तीन उप - भेद किए जा सकते हैं- गुणस्थान में प्रवेश के समय की आरम्भिक स्थिति जिसमें उस गुणस्थान का प्रभाव जीव पर कम प्रमाण में देखने को मिलता है, दूसरी मध्य स्थिति जिसमें जीव उस गुणस्थान के लक्षणों को अंगीकार करते हुए आगे बढ़ने लगता है तथा तृतीय उत्तरार्ध स्थिति जिसमें जीव उस गुणस्थान की चरमसीमा को स्पर्श कर लेता है।

चतुर्थ सम्यकत्व गुणस्थान के समकक्ष गीता में कृष्ण अर्जुन संवाद के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है कि जो व्यक्ति योग या आत्म तत्व में श्रद्धा तो करता है किन्तु संयमी नहीं है उसकी गति क्या होगी ? अर्जुन की इस शंका के समाधान में श्री कृष्ण स्पष्टता करते हैं- **अपि चेत्सुदुराचारी भजते मामन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।9 । 30।। अर्थात्** एक असंयमी किन्तु मेरे में(आत्म में) श्रद्धान या भक्ति रखने वाले जीव को साधु ही मानना चाहिए क्योंकि उसका व्यवसाय या श्रद्धान सम्यक् है जो उसे एक न एक दिन मोक्ष मार्ग पर लगा कर रहेगा।

सत्वगुण की अंतिम दशा और गुणस्थान- इसका अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि जो समस्त कर्मों व बाह्याभ्यन्तर भोगों के प्रति आसक्ति न रखने वाला संन्यासी परमात्म प्राप्ति की योग्यता का धारक बन जाता है। जैन दर्शन में इस साघना पथ की तुलना छठे–सातवें गुणस्थान से की जा सकती है जहाँ से साधक उच्च गुणस्थानों में आरोहण करता है।

(द) जीव की करुणातीत व गुणातीत अवस्थाः-

आध्यात्म उन्नति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था को गीता में **जीव** की करुणातीत व गुणातीत अवस्था कहा गया है। जीव की त्रिगुणातीत अवस्था को निम्न श्लोकों से भी स्पष्ट किया गया है- **समदुःख सुखः स्वस्थः समलोटाश्म काञ्चनः । तुल्यप्रियप्रयो धीरस्तुल्यनिदात्म संसुतुतिः ।। 14 । 24।। मानापमान्योस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्चते ।। 14 । 25।। त्रैगुणयविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।2 । 45 ।। अर्थात्** सुख-दुख लाभ हानि आदि द्वन्द्व रहित समभावी, नित्य-अविनाशी व सर्वज्ञता के प्रति अटलता रखने वाला सत्त्व गुणधारी है। कामवासना और सर्व- आरंभ-परिग्रह का त्याग निर्योग क्षेम है। यह स्थिति

साधक को आत्मवान बनाती है जैन दर्शन के गुणस्थान अभिगम के अनुरूप ये सभी लक्षण सातवें गुणस्थान के समकक्ष माने जा सकते हैं।

<u>13वें और 14वें गुणस्थान वर्णित समकक्ष स्थितियां और गीता-</u>

13वें और 14वें गुणस्थान के समकक्ष स्थितियां गीता के सर्व संकल्प त्याग प्रेरित इस श्लोक में मिलती हैं। यथा-. **यदाहिनेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते। सर्व संकल्प संन्यासी योगारूढस्तवोच्यते।। 6 । 4 ।। अर्थात्** जो समस्त प्रकार की इन्द्रियासक्ति का त्याग कर चुका है और इस प्रकार के कर्म सम्पादन से रहित है ऐसा सर्व संकल्प त्यागी व्यक्ति योगारूढ़ होता है। आगे की उत्कृष्ट स्थिति को स्पष्ट करते हुए इस श्लोक में कहा गया है- **जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा - समाहितः । शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानायमानयो ।। 6 । 7 ।। अर्थात्** जो आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख व मान-अपमान से पूर्णतः निर्विकार एवं प्रशान्तमान है वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा में दृढ़ता पूर्वक स्थित हो जाता है। इस ज्ञान में परमात्मा के सिवाय कुछ नहीं रहता।

12वीं क्षपक श्रेणी क्षीण मोह गुणस्थान व सयोगी केवली साधक के समान स्थिति का दर्शन गीता के निम्न लिखित श्लोक में मिलता है। **योगी पुंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः । एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर परिग्रह ।। 6 । 10 ।। युज्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः । शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।। 6 । 15 ।। अर्थात्** जिस योगी ने शरीर, मन व इन्द्रियादि को वश में कर लिया हो, एकान्त में स्थिर होकर निरन्तर परमात्म में रत हो। मुझमें स्थित ऐसा योगी अंत में परमात्मा की पराकाष्ठा रूप शान्ति को प्राप्त होता है।

<u>समीक्षा-</u>

उपरोक्त के तुलनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट है कि दोनों दर्शनों में साधना प्राप्ति का मार्ग एक है-भक्ति, ज्ञान,कर्म और संन्यास स्वीकृत हैं, निष्काम व निरासक्ति पूर्ण हैं। यहाँ लक्ष्य की ओर बढ़ने की पहली शर्त है- सम्यग्श्रद्धा, सम्यग्दृष्टि पूर्ण सम्यक आचरण। यह मार्ग शाश्वत है, सनातन है जो न कभी किसी के लिए अवरुद्ध था न है और न ही होगा।

जैन दर्शन में वर्णित गुणस्थानों के साथ यदि गीता के त्रिगुण सिद्धान्त के साथ तुलना करें तो हम पाते हैं कि तमोगुण भूमि का जीव मिथ्यादृष्टि विशष्टताओं से यथेष्ट साम्य रखता है। तमोगुण धारक जीव यथार्थ ज्ञानाभाव के कारण योग्य कर्माचरण से परे रहता है। तमोगुण भूमि में मृत्यु प्राप्त प्राणी मूढ़ योनि (अधोगति) में जन्म लेता है। बौद्ध दर्शन में यह अन्धपृथग्जन भूमि के समान है।

दूसरी स्थिति तमोगुणधारी उन प्राणियों की है जो इसके उत्तरोत्तर काल में हैं अर्थात् जीवनदृष्टि और श्रद्धा तो तापस है किन्तु आचरण सात्विक नहीं है यथा- आर्तभाव या कामनादि के साथ भक्ति का आचरण। गीता में इन्हें संस्कृति (सदाचारी) एवं उदार कहा गया है साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि ऐसा जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। जैन दर्शन के गुणस्थान सिद्धान्त में यह अवस्था सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के निकटवर्ती मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले प्राणियों जैसी है। बौद्ध दृष्टि से यह अवस्था कल्याण पृथग्जन या धर्मानुसरी भूमि है।

तीसरी स्थिति रजोगुण अभिमुख है। राजस का आशय है भोग विषयक चंचलता श्रद्धा एवं बुद्धि। बुद्धि की अस्थिरता एवं संशयपूर्णता आध्यात्मिक या यथार्थ आचरण से दूर वनाए रखती है तथा जीव स्थाई निर्णय लेने में असमर्थ होता है। गीता में अर्जुन के व्यक्तितत्व में मूढ़ चेतना का प्रस्तुतीकरण देखने को मिलता है। अज्ञानी और अश्रद्धालु (मिथ्यादृष्टि तो विनाश को प्राप्त होते ही हैं। गीता के अनुसार संशयात्मा की दशा उससे भी बुरी बनती है वह तो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के सुखों से वंचित रहता है यह अवस्था जैन दर्शन के मिश्र गुणस्थान के समकक्ष है। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि तृतीय मिश्र गुणस्थान में जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता जबकि गीता का मत है कि रजोगुण धारक जीव मृत्यु को प्राप्त होने पर आसक्ति प्रधान योनियों में भ्रमण करता हुआ जन्म- मरण करता रहता है।

चौथी स्थिति वह है जिसमें जीव का दृष्टिकोण तो सात्विक है किन्तु आचरण तामस और राजस। इसकी तुलना चतुर्थ सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से की जा सकती है। नवमें अध्याय में इस श्रेणी के जीवों के संदर्भ में श्री कृष्ण कहते हैं कि दुराचारणात् (सुदुराचारी) व्यक्ति जो अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं उनको भी सम्यग्ररूपेण साधु (सात्विक प्रकृति वाला) स्वीकार कर लेना चाहिए। बौद्ध विचारधारा में इसे स्रोतापन्न भूमि (निर्वाण मार्ग प्रवाह से पतित) कहा गया है। गीता और जैन दर्शन के अनुसार ऐसा साधक मुक्ति प्राप्ति की संभावना लिए रहता है।

आगे के आचरण को लेकर जैन दर्शन में कई उप-विभाग या गुणस्थान श्रेंणी हैं जबकि गीता में इस दृष्टि से गहन विश्लेषण नहीं है तथापि अर्जुन द्वारा कई शंकाओं एवं कृष्ण द्वारा उनके समाधान को लेकर छठे अध्याय में उल्लेख मिलता है कि जो व्यक्ति श्रद्धा युक्त (सम्यग्दृष्टि) होते हुए भी चंचल मन के चलते योग पूर्णता को प्राप्त नहीं करते उनकी क्या गति होती है ? इसके समाधान में श्री कृष्ण स्पष्टता करते हैं- चंचलता के चलते परम लक्ष्य को प्राप्त हुए साधु सम्यक श्रद्धा व आचरण युत कर्म के कारण ब्रह्म प्राप्ति की

यथार्थ दिशा में रहता है क्रमशः आत्मा की ओर अग्रसर होने की संभावना बनी रहती है। जैन दर्शन में पाँचवे से ग्यारहवें गुणस्थान तक की जो स्थिति है उसकी तुलना इस अवस्था से की जा सकती है क्यों कि इस अवस्था में आत्म तत्व का दर्शन होता रहता है। धीरे-धीरे राजस भावों व आचरण से उसकी आसक्ति कम होती जाती है और सत्व गुणों की उपस्थिति बढ़ती जाती है। यह योग पूर्णता या मोक्ष जैसी स्थिति है। सत्व गुणों की अवस्था आदर्श नैतिक स्तर है। जैन दर्शन में इसे चरमादर्श विकास या 12वें गुणस्थान की दशा के साथ मापा जा सकता है। यहाँ साधक को कुछ करने को नहीं रह जाता। डॉ. राधाकृष्णन का कथन है कि सर्वोच्च आदर्श नैतिक स्तर से ऊपर उठकर जीव आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचता है। सात्विक अच्छाई भी अपूर्व है क्योंकि इस अच्छाई के लिए विरोधी के साथ संघर्ष की शर्त लगी रहती है। गीता के अनुसार त्रिगुणातीत अवस्था साधना की चरम परिणति एवं विकास की अंतिम कक्षा है। गुणातीत अवस्था को प्राप्त जीव इन गुणों से विचलित न होकर उनमें होने वाले परिवर्तनों को सम्यक् भाव से देखता है। गीता दर्शन के अनुसार ऐसा इसलिए संभव हो पाता है क्योंकि गुणातीत होकर आत्मा को ज्ञान गुण सम्यक् हो जाता है। जैन दर्शन में इसकी तुलना सयोग केवली नामक 13वें गुणस्थान से तथा बौद्ध दर्शन की अर्हत भूमि से की जा सकती है।

अंतिम अवस्था त्रिगुणात्मक देह मुक्ति की है जिसमें आत्मा वरण करता है परमात्म स्वरूप का। आठवें अध्याय में श्री कृष्ण ने कहा है कि में तुझे उस परम पद अर्थात् प्राप्त करने योग्य स्थान को बताता हूँ जिसे विद्वानगण अक्षर या अक्षरपरमात्मा कहते हैं जिसमें वीतराग मुनि ब्रह्मचर्य के साथ प्रवेश करते हैं। योग चंचलता को रोक कर प्राणशक्ति को शीर्ष मूर्धा में स्थिर कर ओम के उच्चारण के साथ मेरे अर्थात् आत्म तत्व में विलीन हो जाते हैं। कालिदास ने भी योग द्वारा शरीर त्यागने का निर्देश दिया है। जैन दर्शन की अयोगकेवली नामक 14वें गुणस्थान की अवस्था से इसकी तुलना की जा सकती है। पहले अशुभ व चंचल वृत्ति से परे होना सम्यग्दृष्टि के साथ शुभ तत्पश्चात शुद्धाचरण में प्रवृत्त होकर आत्म विशुद्धि गुणातीत आत्मा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग में सम रहकर सभी आरम्भ परिग्रहों से परे होकर योग बल से मन के व्यापारों का निरोध करती है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि गीता में गुणस्थानों की भाँति क्रमिक आध्यात्मिक विकास के सोपानों का व्यवस्थित स्वरूप में वर्णन नहीं है तथापि गीता के सार को संक्षेप में नियत गुणस्थान बिन्दुओं के आधार को निम्न रूप से भी स्पष्ट किया जा सकता है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान- यह तमोगुण प्रधान स्थिति है। सत्वगुण की आंशिकता भी तमो व रजोगुणाधीन रहती है।

सास्वादन- तमोगुण प्रधान है किंचित मात्रा में सत्वगुण का प्रकाश होता है जब तक आत्मा पतित होकर मिथ्यात्व गुणस्थान को पुनः प्राप्त हो।

मिश्र गुणस्थान- यह रजोगुण प्रधान है। सत्व और तम रजोगुणाधीन होते हैं।

सम्यग्दृष्टि गुणस्थान- विचार सम्यकत्व या सत्व गुण प्रेरित आचार रजो एवं तमो गुण प्रेरित रहता है। अतः विचार की दृष्टि से यह समन्वित सत्वगुण प्रधान अवस्था है तथा आचरण की दृष्टि से सत्व समन्वित तमोगुण प्रधान अवस्था है।

देशविरत सम्यकत्व गुणस्थान- विचार की दृष्टि से सत्वगुण प्रधान तथा आचार की दृष्टि से आरम्भिक सत्व (अणुव्रती) प्रधान है। इसलिए यह सत्वोन्मुखी रजोगुण प्रधान अवस्था है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान- यहाँ आचार पक्ष पर सत्वगुण का प्रभुत्व थोड़ा बढ़ता है और तम तथा रज की प्रधानता न स्वीकारने की शक्ति का सृजन संयमादि के चलते होता है।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान- यहाँ सत्वगुण का तमोगुण पर पूरा अधिकार या विकास(क्षयोपशम या क्षय) हो जाता है किन्तु रजोगुण पर अभी अधिकार होना शेष रहता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान- यहाँ सत्व रजोगुण पर पूरा काबू पाने का प्रयास करता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान- यहाँ रजोगुण को काफी अशान्त बनाकर काबू पाने का प्रयास किया जाता है किन्तु रजोगुण पूर्णतया निःशेष नहीं होता है। रागात्मक अति सूक्ष्म लोभ प्रवृत्तियाँ छद्मवेश में अवशेष रहतीं हैं।

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान- इसमें राजस पर पूर्ण स्थापत्य हो जाता है।

उपशान्तमोह गुणस्थान- इस अवस्था में साधक की तमस और राजस अवस्थाओं का पूर्ण उपशम उन्मूलन(यदि क्षयोपशम) न होने से सत्व की स्थिति कमजोर पड़ जाती है।

क्षीणमोह गुणस्थान- इस गुणस्थान में साधक तमो-रजो गुण का पूर्ण नाश करके पहुँचता है। सत्व गुण का तमस व राजस के साथ चलने वाला संघर्ष समाप्त हो चुका होता है। नैतिक पूर्णता की इस अवस्था में इन तीनों गुणों का साधन रूपी स्थान समाप्त हो जाता है।

सयोग केवली गुणस्थान- यह गुणातीत अवस्था की शुद्ध आत्मतत्व रूप स्थिति है यद्यपि शरीर के रूप में इसका अस्तित्व रहता है फिर भी केवलज्ञान की आभा में अप्रभावित ही रहते हैं।

अयोग केवली गुणस्थान- यह गीता दर्शन के मुताबिक गुणातीत एवं देहातीत अवस्था है जिसमें साधक योग क्रिया के द्वारा नश्वर शरीर का त्याग करता है। जैन परम्परा में इसी अवस्था को अयोग केवली के रूप में जाना जाता है।

(ब) <u>बौद्ध दर्शन</u> <u>और गुणस्थान अवधारणा</u>

"मुक्ति के लिए दूसरा आश्रय मत ढूंढो। बिना प्रमाद के किसी की कृपा पर निर्भर रहे बिना मुक्ति हेतु प्रयत्नशील रहो, पवित्र से पवित्र जीवन बिताओ तथा नियमित रुप से ध्यान व समाधि करो" –बुद्ध उपदेश

भूमिका-

जैन दर्शन में वर्णित गुणस्थान की इस विकास यात्रा में चौदह चरण हैं जिसमें आरोहण, पतन, विकास एंव कर्म रहित होने की विभिन्न पद्धतियों को लेकर नियत व्यवस्थाओं का निर्देश है। गुणस्थान जीव की आध्यात्मिक विकास यात्रा के सोपानों की स्थिति का एक विश्लेषण है जिसकी मान्यता है कि जैसे-जैसे जीव ऊपर के सोपानों में आरोहण हेतु विशुद्धतर या विशुद्धतम नैतिक-चारित्रिक विशुद्धतायुक्त पुरुषार्थ करता है वैसे-वैसे वह जीवन के अंतिम ध्येय निर्वाण या मोक्ष के निकट पहुँचता है और इस यात्रा के उच्चतर मुकामों पर उसे अलौकिक आध्यात्मिकता की सुखद अनुभूति होती है। यहाँ निर्वाण या मुक्ति की कल्पना जीव की समस्त कर्मों से मुक्ति, संकल्प-विकल्प रहित उसके निज स्वरूप में लौट आने से की गई है। जो गुण सहित है वही गुणी है। साधना की विभिन्न उच्चतर अवस्थाओं में पहुँचने हेतु किन किन गुणों का होना जरूरी है इस व्यवस्था अथवा विधान के संकलित स्वरूप को गुणस्थान के नाम से जाना जाता है। गुणस्थान का सीधा सम्बन्ध यूं तो जैन दर्शन से माना जाता है किन्तु भारत के प्रायः सभी प्रमुख दर्शनों में आध्यात्मिक विकास की बात अपने अपने तरीके से की गई है। बौद्ध धर्म का विकास जैन आध्यात्मिक परम्परा के समानान्तर रहा है। इसमें कितनी समानता देखने को मिलती है और कितनी विविधता- यह जानना भी अभ्यास की दृष्टि से तर्कसंगत लगता है। ताकि मानवोपयोगी गुणस्थान सिद्धान्त की सर्वव्यापक उपयोगिता को यथोचित स्थान प्राप्त हो सके। इससे गुणस्थान की अवधारणा की सार्वभौमिक स्वीकार्यता की वैज्ञानिक आधार पर पुष्टि की जा सकती है। बौद्ध दर्शन एवं परम्परा में गुणस्थानक विकास की स्थितियों के समकक्ष ऐसी कैनसी स्थितियां व विधान उपलब्ध हैं, उनका विश्लेषण निम्नवत् रूप मे किया जा सकता है-

<u>बौद्ध दर्शन व परम्परा-</u>

बौद्ध दर्शनम् - बुद्धि तत्त्व को प्रधान मानकर तत्त्व विवेचन करने वाला दर्शन ही बौद्ध दर्शन कहा गया है। बौद्ध दर्शन के 10 शील अर्थात् आचरण के 10 नियम इस प्रकार हैं- सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह 5व्रत तथा नृत्यगान-आमोद प्रमोद का त्याग, सुगन्धित

वस्तुओं का त्याग, असामयिक भोजन का त्याग, कोमल शैय्या का त्याग और कामिनी व कंचन का त्याग। इनहें एक साधक के लिए अनिवार्य माना गया है।

बौद्ध सम्प्रदाय के चार भेद

(अ) माध्यमिक बौद्ध- यह शून्यवादी सम्प्रदाय है । इस सम्प्रदाय की आस्था के अनुसार भगवान बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेशों में से केवल **सर्व शून्यम्** को प्रधान्य दिया जाता है और उसी में ही सन्तुष्ट होकर शून्य को परमार्थ सत्य समझकर ग्रहण किया जाता है।

(ब) योगाचार बौद्ध- इनको विज्ञानवादी बौद्ध कहा जाता है । कुछ शिष्य सर्व शून्य में विप्रत्तिपत्ति देखकर कहते हैं कि- सभी को शून्य मानने पर ज्ञान भी उसके अन्तर्गत आ ही जायेगा तब ज्ञेय और हेय, सुख-दुःख ,संसार, बन्ध, निर्वाण आदि का बोध किस आधार पर होगा? बाहय सत्ता तो अनादि कर्म वासनाजन्य होने से असत् हैं जबकि विज्ञान की सत्ता ही परमार्थिक है ।

(स) सौत्रान्तिक बौद्ध- इस मत में माध्यमिक और योगाचार की अपेक्षा बाहय सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करने की विशेषता है। ये चित्त तथा बाहय जगत दोनों की सत्ता मानते हैं। अतः बाहय वस्तु और उसके अस्तित्व का बोध कराने वाला विज्ञान दोनों ही का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है।

(द) वैभाषिक- बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्त निरपेक्ष है। बाहय तथा आन्तर पदार्थ का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से माना जाना इन्हें युक्त संगत लगता है। ये भूत, भविष्यति और वर्तमान तीनों काल के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाण माने गए हैं।

बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य -

(क) दुःख या सर्वम दुःख म– संसार दुःखमय है। यहाँ दुःख का आशय है- सांसारिक धन-दौलत इज्जत आदि के उपार्जन में उत्पन्न हआ दुःख। दूसरे उसके संरक्षण में आने वाला दुःख और अंत में उसके उपयोग काल में प्रतिकूलता हो जाने के कारण उत्पन्न हुआ दुःख। इसीलिए संसार को दुःखमय माना गया है। यह 5 स्कंधों में किसी एक को पकड़ने से भी हो सकता है।

(ख) दुःख समुदाय (दुःख का कारण)– दूसरा आर्य सत्य यह है कि दुःख अकारण नहीं है। जिस सुख के साथ लालच की भावना लगी रहती है, कभी यहाँ तो कभी वहाँ सुख खोजने की वृत्ति रहती है जो अंततः दुःख का कारण बनती है। दुःख के जरा, मरणादि, अविद्या व तृष्णा आदि मुख्य बारह कारण माने जाते हैं।

(ग) दुःख निरोघः (दुःख से मुक्ति)- तीसरा आर्य सत्य यह है कि दुःख का निरोध संभव है। दुःख के कारणों(लोभ, तृष्णा) को हटा देने से दुःख स्वतः समाप्त हो जाते हैं। अतः तृष्णा पर अंकुश वाछनीय है। इसको ही निर्वाण अर्थात मुक्ति का पुरुषार्थ कहा गया है।

(घ) **दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् (दुःख निरोधगामी मार्ग)-** चौथा आर्य सत्य यह है कि इन दुःखों से छूटा जा सकता है। दुःख से छुटकारा पाने के आठ मार्ग हैं यथा- **सम्यक ज्ञान-दृष्टि** जो सदाचार व बुराई में भेद ज्ञान कर सके। **सम्यक् संकल्प** कषायादि विकल्पों को त्यागने हेतु दृढ़ मनोबल व इच्छाशक्ति, **सम्यक् वाणी** जिसमें विनम्रता व मृदुता का पुट हो एवं असत्य कठोर निन्दनीय व अर्थहीन वार्तालाप से दूर रहना।, **सम्यक् कर्मान्त** वस्तुओं में आसक्ति न रखते हुए सत्कर्म करना।, **सम्यक् आजीविका** जीवन यापन हेतु नैतिक दृष्टि से जो निषेधित मार्ग हैं उनका अनुकरण न करना।, **सम्यक् व्यायाम** अर्थात् आचार विचारों की शुद्धता को ध्यान में रखकर धर्मदृष्टियुक्त आचरण करना।, **सम्यक् स्मृति** अर्थात् आत्म सतर्कता- समस्त कार्यों को इस प्रकार करना कि आत्मा व शरीर पर नियन्त्रण रखा जा सके।, **सम्यक् समाधि** चार महान सत्यों को ध्यान में रखते हुए चित्त को एकाग्र करना। (सही विश्वास, सही इरादे, सही भाषण, सही आचरण, सही जीवन यापन, सही प्रयत्न, सही मानसिक व्यवस्था और सही ध्यान = शुद्ध अंतःकरण व विवेकयुक्त ज्ञान का प्रकटीकरण) । ये ही बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग हैं इनके पालन से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

टिप्पणी- उपरोक्त दशाओं को जैन दर्शन में वर्णित आध्यात्मिक अविकास से विकास की स्थितियों - आश्रव (कर्म बंध के कषायादि कारण), बंध (कषायादि प्रवृत्तियों में आसक्ति अर्थात् लालच तृष्णा), संवर (लोभरूप प्रवृत्ति पर रोक अर्थात् भावी बंध का दृढ़इच्छाशक्ति पूर्वक निरोध) तथा निर्जरा (पुरुषार्थपूर्वक इन कषायादि प्रवृत्तियों का दमन जिसके परिणाम स्वरूप निश्चित रूप से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।) के साथ तुलनात्मक पटल पर देखा जा सकता है।

<u>बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख सम्प्रदाय</u>-

इस दर्शन के दो प्रमुख सम्प्रदाय हीनयान और महायान हैं। दोनों का लक्ष्य व साधनाक्रम आपस में नितान्त भिन्न है। हीनयान का आदर्श है- अर्हत और महायान का बोधिसत्व। अर्हत वह साधक है जो अपने ही अर्थात् व्यक्तिगत निर्वाण के लिए सदा उद्योगशील रहता है जबकि बोधिसत्व का लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ की जगह समूचे प्राणियों के परमार्थ का होता है। इसलिए वे स्व निर्वाण से संतुष्ट न होकर अधिकतम लोगों को निर्वाण का अनुभव कराना चाहते हैं। हीनयान में निर्वाण को दुःखरूप व महायान में आनन्दरूप माना जाता है।

<u>हीनयान में आध्यात्मिक विकास-</u> बौद्ध धर्म में भी संसारी जीवों की दो श्रेणियां हैं-
1-पृथग्जन- जो मिथ्यादृष्टि जीव की तरह है तथा 2-**आर्य-** जो सम्म्दृष्टि सहित हैं। पृथग्जन की श्रेणी को पुनः दो भागों में बाँटा गया है यथा- **(अ) अंध पृथग्जन भूमि-** जो मिथ्यात्व या अज्ञान की द्योतक है तथा (**ब) कल्याण पृथग्जनभूमि-** जिसे मज्झिम निकाय में धर्मानुसरी या श्रद्धानुसरी भूमि कहा है इस भूमि का साधक निर्वाण भूमि की ओर अभिमुख तो होता है किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर पाता । हीनयान सम्प्रदाय मानता है कि आर्य या सम्यकत्व पर आरूढ़ होकर निर्वाण सिद्धि की प्राप्ति पथ पर निम्न चार भूमियों से होकर गुजरना होता है यथा- स्रोतापन्न भूमि- सकृदागामी भूमि, अनागामी भूमि व अर्हत भूमि। इनके लक्षणों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है-

1-स्रोतापन्न भूमि- स्रोतापन्न का शाब्दिक अर्थ है- साधना या कल्याण मार्ग पर बढ़ने वाला साधक। इस स्थिति को प्राप्त करने हेतु साधक को निम्न संयोजन या बंध का क्षय करना होता है- (**अ) सत्काय दृष्टि-** देह में ममत्व, शरीर को आत्मा मानना (स्वकाये दृष्टिः चन्द्र कीर्ति) **(ब) संदेहात्मकता तथा (स) शीलव्रत परामर्श-** व्रत-उपवास में आसक्ति या मात्र कर्म-काण्ड में रुचि। इन मिथ्या क्रियाओं की समाप्ति पर साधक इस भूमि से पतित नहीं होता और इस भूमि में रहते हुए चार अंगों से सम्पन्न हो जाता है- बुद्धानुस्मृति- बुद्ध में निर्मल श्रद्दा से युक्त, धर्मानुस्मृति- धर्म में निर्मल श्रद्धा से युक्त, संघानुस्मृति- संघ में निर्मल श्रद्धा से युक्त तथा शील एवं समाधि से युक्त हो जाता है। इनके चलते साधक के आचार-विचार दोनों शुद्धता को प्राप्त होते हैं वह अधिकतम सात जन्मों में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन में वर्णित सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान की तुलना स्रोतापन्न भूमि से की जा सकती है। वासना की विमुखता, शुद्ध-सम्यक विचार , नैतिक आचार, तीव्रतम क्रोधादि कषायों का क्षय, उपशम या क्षय आदि घटकों की कसोटी पर इन दोनों के मध्य समानता दिखती है। स्रोतापन्न अवस्था में कामधातु (वासनाएँ) तो समाप्त हो जाती हैं लेकिन रूप धातु (आश्रव अर्थात, राग-द्वेष व मोह) शेष रहतीं हैं ।

(ब) सकृद्गामी भूमि- इसकी तुलना आठवें गुणस्थान से की जा सकती है जहाँ बन्ध के मूल कारणों राग-द्वेष पर प्रहार कर आगामी आध्यात्मिक अवस्था को निर्बाध बनाया जाता है जिसे जैन दर्शन में **क्षीणमोह** गुणस्थान कहा गया है उसे यहाँ अनागामी भूमि कहा गया है। इस भूमि में जाने से पूर्व साधक आश्रव-क्षय अर्थात, कामराग (वासना) तथा प्रतिध(द्वेष) का क्षय करता है आश्रव निरोध ही सकृद्गामी भूमि पर साधक को स्थापित करता है।

जैन दर्शन के अनुसार यदि साधक इन गुणस्थानों में मृत्यु को प्राप्त होता है तो तीसरे जन्म में निर्वाण को प्राप्त कर लेता है जबकि बौद्ध दर्शन के अनुसार सकृदागामी भूमि

के साधना काल में मृत्यु को प्राप्त होने पर साधक एक ही जन्म धारण करता है। यदि वह अगली अवस्था अनागामी या क्षीण मोह को प्राप्त होता है तो इसी भव में निर्वाण प्राप्त करता है इसे लेकर दोनों में मतैक्य दीखता है।

(स) अनागामी भूमि- बौद्ध विचार धारा के अनुसार इस भूमि को प्राप्त साधक यदि भावी आध्यात्मिक विकास का प्रयास नहीं करता तो मृत्यु होने पर ब्रहम लोक में जन्म लेकर सीधा निर्वण को प्राप्त होता है। जबकि आगे बढ़ने वाला साधक शेष पाँच उड़ढभागीय संयोजन-रूप-राग, अरूप राग, मान, औद्वित्यऔर आविद्या का नाश कर अंतिम अर्हतावस्था में प्रवेश की योग्यता हाँसिल कर लेता है।

सामान्य रूप से आठवें से बारहवे गुणस्थान तक की अवस्थाएं यहाँ आ जातीं हैं।

(द) अर्हतावस्था- दसों बन्धनों को तोड़कर एक भिक्षु कृतकाय (उसके लिए कुछ भी करने को शेष नहीं रहता तथापि संघ सेवा हेतु वह क्रियाशील रहता है) हो जाता है। यह जीवानुमुक्ति एवं निर्वाण की अवस्था है इसकी तुलना सयोग केवली गुणस्थान से की जा सकती है।

<u>महायान में आध्यात्मिक विकास-</u>

महायान सम्प्रदाय में दस भूमियों का वर्णन है जो मूलतः क्रमिक आध्याक्मिक विकास की आवधारणा पर आधारित है। महायान सम्प्रदाय के अलग-अलग सूत्रों में नामों की विभिन्नता देखने को मिलती है। यथा- दशभूमिशास्त्र के अनुसार- (1) प्रमुदिता (2) विमला (3) प्रभाकरी (4) अर्चिष्मति (5) मृदुर्जया (6) अभिमुक्ति (7) दूरांगमा (8) अचला (9) साधुमति और (10) धर्म मेघा।

महायान के संक्रमण काल में लिखे गये महावस्तु नामक ग्रन्थ के अनुसार- (1) दुरोहा (2) बद्धमान (3) पुष्प मंडिता (4)रुचिता (5)चित्त विस्तार (6(रूपमति (7) दुर्जया (8) जन्मनिदेश (9) यौवराज और (10) आभिषेक।

असंग महायान सूत्रालंकार में प्रथम भूमि का नाम अधिमुक्तिचार्य भूमि कहा है किन्तु अंतिम बुद्ध भूमि या धर्म मेघा नहीं बताई गई है। लंकावतार में धर्म मेधा और बुद्ध (तथागत) भूमि को अलग-अलग बताया गया है।

उपरोक्त वर्णित भूमियों को संकलित करके आध्यात्मिक विकास क्रम की दृष्टि से निम्नवत रूप से स्पष्ट किया जा सकता है।

1- **अधिमुक्तचर्या भूमि-** प्रथम भूमि की तुलना जैन दर्शन के चतुर्थ गुणस्थान से की जा सकती है। इस भूमि का साधक पुद्गल और नैरात्म्य का भेद ज्ञान रखता है एक सम्यग्दृष्टि या दृष्टि विशुद्धता की भाँति।

2- **प्रमुदिता-** यह शील विशुद्धि की प्राथमिक अवस्था है जिसे बोधिचित्त प्रस्थान भी कहा जाता है। जैन परम्परा में इसकी तुलना पाँचवें और छठे गुणस्थान से की जा सकती है जिसमें चारित्र विशुद्धि हेतु संयम पालना होता है। साधक को बोध रहता है कि उसे नियत कर्मों का फल भोगना ही है अतः शुद्ध चित्त व शील (चर्या) को संतुलित वनाये रखने का पुरुषार्थ यहाँ होता है।

3- **विमला-** यहाँ साधक (बोधिसत्व) अनैतिक आचरण से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। दुःखशीलता के सम्पूर्ण नष्ट होने से परम शक्ति अर्थात विमलमति का प्राकट्य विमलावस्था है। इसकी तुलना अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से की जा सकती है।

4- **प्रभाकरी-** इस अवस्था में साधक समाधिशक्ति से अपने अलौकिक ज्ञान का प्रकाश लोकहित में संसार में फैलाता है। इसमें भी सातवें गुणस्थान समकक्ष विशिष्टताओं का समावेश दृष्टिगत होता है।

5- **अर्चिष्मती**- इस भूमि में क्लेशावरण व श्रेयावरण (द्वेष-राग) का दाह होता है इसलिए इसकी तुलना अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान से की जा सकती है। इस भूमि में साधक वीर्य परमिता का अभ्यास करता है।

6- **सुदुर्जया-** इस भूमि नें साधक ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है। जैन दर्शन में इसकी तुलना आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान के साथ की जा सकती है। यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

7- **अभिमुखी-** इस भूमि में प्रज्ञा का उदय होने से साधक निर्वाणोन्मुख हो जाता है उसके लिए संसार व निर्वाण में भेद नहीं रहता। पूर्णता की इस स्थिति की तुलना सूक्ष्म-साम्पराय नामक 10वें गुणस्थान से की जा सकती है।

8- **दूरंगमा-** यह साधक की निर्वाण प्राप्ति की योग्यता को दर्शाती है। यह अवस्था साधक के मन से संकल्प विकल्प व पक्षवादिता को दूर कर निर्मल शून्यता से साक्षात्कार कराती है जो साधना की पूर्णता का द्योतक है जो 12वें गुणस्थान से की जा सकती है।

9- **अचला-** संकल्प शून्य, विषयरहित, समाधियुक्त साधक की यह अचला अवस्था है। यहाँ चित्त की चंचलता समाप्त हो चुकी होती है । इसकी तुलना सयोग केवली नामक 13वें गुणस्थान से की जा सकती है।

10. **साधुमती-** यहाँ बोधिसत्व में समस्त प्राणियों के प्रति निर्मल भाव, विश्लेषणात्मक अनुभव करने वाली बुद्धि (प्रतिसविन्मति) की प्रधानता रहती है। यह अवस्था कमोवेश 13वें गुणस्थान से तुलनीय है।

11. धर्म मेघा- मेघ का अर्थ है आकाश । इसमें समाधि धर्माकाश को प्राप्त कर लेती है। सयोग केवली की भाँति जिन समवशरण जैसी स्थिति बौद्ध दर्शन की धर्म मेघा अवस्था में दृष्टिगत होती है।

<u>समीक्षा-</u>

जैन तथा बौद्ध दोनों ही दर्शनों में आध्यात्मिक विकास प्रमुख है तथा इनका अंतिम लक्ष्य भी निर्वाण है। दोनों का ही यह मानना है कि आत्मा के इस नैतिक विकास के आयामों में विशुद्धता का प्रमाण बढ़ता जाता है। बौद्ध दर्शन कारणवादी है। इस मान्यता के मुताबिक कारण के बिना कोई घटना घटित नहीं हो सकती। इस दर्शन में कर्मवाद, क्षणिकवाद, आत्मा की अनित्यता, ईश्वर की सत्ता में अविश्वास तथा निर्वाणका आदर्शवाद आदि सिद्धान्तों का प्रभाव (प्रतीत्य समुत्पाद का नियम) स्पष्ट देखा जा सकता है। आचार्य हरिभद्र ने महायान के बोधिसत्व पद की तुलना सम्यग्दृष्टि अवस्था से की है। बोधिसत्व का अर्थ है- ज्ञान प्राप्ति का इचछुक। जहाँ जैन परम्परा (दिगम्बर और श्वेताम्बर) में गुणस्थान की चौदह भूमियां बताई गईं हैं वहाँ बौद्ध परम्परा में मतैक्य हैं।

****

(स) <u>योगपरम्परा में वर्णित आध्यात्मिक विकास एवं गुणस्थान</u>

भूमिका-

वेदान्त योग को ज्ञान के साधन अर्थात् ज्ञान साधना के रूप में स्वीकार करता है तथा स्मृति, इतिहास, पुराण तथा अन्य श्रुति में भी योग का ज्ञान-साधनत्व प्रसिद्ध है और गुणोपसंहार न्याय से योग की हेतु रूपता स्वीकार्य की गई है। योग वशिष्ठ दर्शन और चिन्तन ग्रन्थ हिन्दू परम्परा का वह प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। संख्या की दृष्टि से तो ये जैन दर्शन में वर्णित 14 गुणस्थानों के समकक्ष ही हैं तथा गहनता व विषय वस्तु की दृष्टि से भी इनकी जैन अभिगम में निकटता देखने को मिलती है। योग बिन्दु में आध्यात्मिक विकास को लेकर आचार्य हरिभद्र ने इसकी पाँच भूमियां बताई हैं- अध्यात्म, ध्यान, भावना, एकता, तथा वृत्ति संक्षय। इनमें प्रथम चार को उन्होंने सम्प्रज्ञात् अर्थात् चित्त समत्व तथा अंतिम को असम्प्रज्ञात् भूमिका अर्थात् आत्म रमण (जो अंतिम लक्ष्य मोक्ष की तरह है) कहा है ।

अद्वैतमार्तण्ड योग के विषय में विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। ज्ञानयोग तथा अद्वैतयोग द्विविध योग का उल्लेख इसमें किया गया है। प्रथम प्रकार के येग में आत्म एवं अनात्म के विवेचन एवं ज्ञान का अभ्यास किया जाता है जबकि द्वितीय प्रकार में अभेदभाव का स्थापन होता है। अद्वैत मार्तण्ड में योग की सात भूमियाँ बताई गईं हैं। तीव्र मोक्ष की इच्छा वाली ज्ञानावस्था शुभेच्छा है। श्रवणमननरूपा विचारणा है। ब्रह्माकार सूक्ष्म मन की अवस्था तनुमानसा है सिद्ध में आसक्ति रूप असंशक्ति है। ब्रह्मातिरिक्त पदार्थ की भावना न करने वाली पदार्थभावना है तथा स्वरूपात्मक भूमि तुर्यगा है। प्रथम तीन साधन भूमियाँ हैं, चतुर्थ संप्रज्ञात एवं फलात्मिका भूमि है तथा अतिंम तीन असंप्रज्ञात भूमियाँ हैं। पंचम में उत्थान स्वयं होता है तथा षष्ठं भूमिका में अन्य के द्वारा होता है। सप्तम भूमिका में व्युत्थान स्वतः होता है न परतः।

<u>योग दृष्टि समुच्चय एवं गुणस्थान-</u>

आचार्य हरिभद्र कृत योग दृष्टि समुच्चय में आठ दृष्टियों का उल्लेख है जिसमें चार पतन और चार आध्यात्मिक उत्थान की द्योतक हैं। योग के आठ अंगों - यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि की तुलना गुणस्थान के साथ निम्नवत् रूप से की जा सकती है।

<u>1.यम-</u> अहिंसा, अस्तेय, स्त्रीसंगाभाव तथा अपरिग्रह इन पंचविध मुख्य यमों के अतिरिक्त क्षमा, द्युति, दया, आजर्व, मिताहार,शौचादि की योजना द्वारा दशविध यमों की भी प्रसिद्धि

दिखलाई है। जैन दर्शन के प्रमुख ग्रंथ उमास्वामिरचित तत्त्वार्थ सूत्र के सातवें अध्याय में कहा गया है- "**हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविर्तिव्रतं**" अर्थात् हिंसा, अनृत, स्तेय, स्त्रीसंग, परिग्रह आदि निषिध कर्मों को न करने वाला साधक कहलाता है जिसे योग दर्शन में यम कहा जाता है।

2.नियम- कर्मफल की इच्छा न करना, सकाम कर्मों से लौटाकर निष्काम कर्म में प्रेरित करने वाले शौच, संतोष, स्वाध्याय, ईश्वर-प्राणिधान, प्रसिद्ध पाँच नियम योग दर्शन में स्पष्ट किए गए हैं। तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तवाक्य-श्रवण, ह्रीं, मति, जप एवं हुत आदि दशविध नियम भी चर्चित हैं। जैन दर्शन के गुणस्थानक सिद्धआन में इनकी उपस्थिति मानी जाती है।

3.आसन- इसमें बैठने जांघके ऊपर दोनों पाद-तल रखकर, विपरीतक्रम से हाथों द्वारा अँगूठे को पकड़ने पर पद्मासन की स्थिति होती है। जांघ के बीच में दोनों टखने रखकर सीधी तरह से बैठने पर स्वास्तिक आसन की अवस्था होती है। एक जांघ पर एक पाँव तथा दूसरी जांघ पर दूसरा दाँव रखने से वीरासन होता है। योनिस्थान में पाँव का अग्र भाग लगाकर एक पाँव को मेढ़ू पर दृढ़ता से रखकर, चिबुक को हृदय पर स्थिर करके, स्थाणु को संयमित करके भ्रूमध्य भाग में दृष्टि निश्चल करके सिद्धासन होता है। यह आसन मोक्ष-द्वार को खोलने वाला है।

4.प्रणायाम- आसन की स्थिरता के अनन्तर प्रणायाम का विधान है। प्राण और अपान का एक्य ही प्रणायाम है तथा वही हठयोग भी है। प्रणायाम हठयोग के बीज के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। प्रणायाम चतुर्विध है।

(अ)बाह्यवृत्ति- रेचक प्रक्रिया द्वारा उदर- स्थितवायु की बाह्य-गति को बाहर ही रोकना बाह्यवृत्ति-प्रणायाम है।

(ब)अभ्यंतरवृत्ति- पूरण व्यापार द्वारा भीतर को ओर जाने वाली वायु को भीतर ही रोक लेना अभ्यंतरवृत्ति प्रणायाम है।

(स)स्तम्भ-वृत्ति- रेचक ओर पूरक प्रयत्न के बिना, अवरोध प्रयत्न द्वारा एक ही बार बाह्य एवं अभ्यंतर के विचार के बिना ही गति का रोक लेना स्तम्भबृत्ति-प्रणायाम कुम्भक है।

(द)तुरीय-बृत्ति- बाह्य एवं अभ्यंतर प्रवेशों में सुक्ष्म दृष्टि से वायु की बहुविध प्रयत्नों से सिद्ध होने वाली स्तम्भ-बृत्ति ही तुरीयवृत्ति प्रणायाम है।

5.प्रत्याहार- इसमें इन्द्रियों को विषयों से विमुख करके लाया जाता है इसलिए यह प्रत्याहार कहलाता है अथवा विषयों से इन्द्रियों का बलपूर्वक आहरण ही प्रत्याहार है।

6.धारणा- प्राण और मन को विधिपूर्वक अंगुष्ठादिचक्रों में स्थिर करना धारणा है। अथवा चित्तवृत्ति की स्थान विशेष में स्थिरता ही धारणा है।

7.ध्यान- वृत्ति के एक से बने रहने की अवस्था ध्यान है और यही ध्यान योग है। इसमें चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है।

8.समाधि- संप्रज्ञता समाधि ध्यान की ही पराकाष्ठा है। ध्येय मात्र का स्फुरण अहंकार रहित-ब्रह्माकार-वृत्ति का उदय तथा त्रिपुटीलय आदि संप्रज्ञात् समाधि में होता है। इसी समाधि को लय योग भी कहा जाता है। श्री रामचन्द्र कृत सामायिक पाठ में निम्न उद्धत पंक्तियों के माध्यम से समाधि की विभावना के इस प्रकार दर्शाया गया है-

हे भद्र आसन लोक पूजा संग की संगत तथा। ये सब समाधि के न साधन वास्तविक में है प्रथा।।

समाधि से अभिप्राय सविकल्प-समाधि है। यम, नियम, आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योग के बहिरंग साधन हैं तथा धारणा ,ध्यान और समाधि ये तीन योग के आन्तरिक साधन हैं। ध्येयमात्र का स्फुरण समाधि है और स्वरूप का स्फुरण असंप्रज्ञातयोग है।

योग बिन्दु में आध्यात्मिक विकास की स्थितियां-

(1) **मित्रदृष्टि और यम-** यम अर्थात् अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन मित्रदृष्टि साधक करता है। इस अवस्था का आत्मबोध सम्कत्व सहित तो होता है किन्तु शुभ क्रियाओं में मोह राग या रुचि के चलते पूर्ण परित्यक्ततायुक्त नहीं होता ।

(2) **तारादृष्टि और नियम-** इस दशा में साधक शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय आदि नियमों का पालन करते हुए शुभ कार्यों के प्रति अप्रेम का गुण व तत्व ज्ञान की जिज्ञासा का सृजन कर लेता है।

(3) **बलादृष्टि और आसन-** व्यक्ति यहाँ मनो-विकारों व तृष्णा को शान्त करने की शक्ति संचय करके योग निरोध का अभ्यास मन, वचन, काय के माध्यम से करता है। इस अवस्था का तत्व बोध **काठ की अग्नि** के समान होता है।

(4) **दीप्रादृष्टि और प्रणायाम-** यह योग के प्रणायाम के समान है जैसे प्रणायाम की रेचक, पूरक, और कुम्भक तीन अवस्थाएं है ठीक उसी प्रकार दीप्रादृष्टि क्रमशः बाह्य भाव नियन्त्रण, आन्तरिक भाव नियन्त्रण तथा मनोभावों की स्थिरतारूप कुम्भक जिसमें सदाचार की ज्योति प्रज्वलित रहती है, के समान होती है किन्तु पूर्ण नैतिक विकास के अभाव में इस अवस्था में पतन की सम्भावना बनी रहती है। इन चारों अवस्थाओं में आसक्ति रहती है, यथार्थ बोध नहीं होता।

(5) मिथ्यादृष्टि और प्रत्याहार- इसअवस्था में व्यक्ति सत्य या यथार्थ को स्वीकारता व समझता तो है किन्तु ग्रहण नहीं कर पाता यद्यपि दिशा व लक्ष्य उसके सामने तय होते हैं किन्तु आचरण का निमित्त या संयोग नहीं मिल पाता ठीक सम्य्ग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान की तरह।

(6) कान्तादृष्टि और धारणा- जिस प्रकार चित्त की स्थिरता में शुद्धता आधार रूप है उसी प्रकार कान्तादृष्टि के द्वारा जीव सत्-असत् में पूर्ण भेद दृष्टि के साथ आत्मशुद्धि के पथ पर साधना में स्थिर होता है। इस धारणा के समर्थन में छहढाला की छठवीं ढाल की ये पंक्तियां युक्ति संगत प्रतीत होती हैं-

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अंतर भेदिया। वरणादि अरु रागादि तैं निज भाव को न्यारा किया।।8।।

(7) प्रभादृष्टि और ध्यान- जहाँ धारणा में एक देशीय चित्त की स्थिरता रहती है वहीं प्रभादृष्टि और ध्यान अवस्था दीर्घकालिक व चित्त की पूर्ण स्थिरता की द्योतक है। कमोवेश यह स्थिति जैन दर्शन में आठवें से बारहवें गुणस्थान में देखने को मिलती है। यहाँ कर्म क्षय (क्षीण प्राय) हो जाता है। पं. दौलतरामजी अपने बहु प्रचलित लोकग्रंथ छःढाला में कहते हैं- **निज माहि निज के हेतु निजकर आपको आपै गह्यौ । गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मझार कछु भेद न रह्यौ।।**

(8) परादृष्टि और समाधि- अद्वेत मार्तण्ड ज्ञानोदय में समाधि के अनुष्ठान की परम आवश्यकता दिखलाता है। मनोनाश-वासना-नाश तथा तत्व-ज्ञान के युगपद अभ्यास के बिना परमपद की अप्राप्ति के श्रुति-निर्देश द्वारा यह सिद्ध किया है कि सविकल्पक समाधि का अनुष्ठान नितान्त अनिवार्य है। यह सभी योगावस्था का उत्तरार्ध और परादृष्टि का पूर्वार्ध तेरहवें गुणस्थान जैसी समकक्षता रखता है किन्तु इस अंतिम योगावस्था में चित्त सम्पूर्ण शान्त व पूर्ण नैतिक साधन की सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति करता है। यह चौदहवें गुणस्थान से तुलनीय है।

समाधिफल-_योग दर्शन में समाधिफल का उप विभाजन एवं विश्लेषण इस प्रकार किया गया है-

(अ) सम्प्रज्ञात समाधिफल-_सविकल्पक समाधि में सात्विक वृत्ति का ध्येय के आकार के रूप में सद्भाव रहता है। समाधि में ध्यान-ध्याता-ध्येय त्रिपुटी का विलय नहीं होता। इस सविकल्पक समाधि के चिरकालिक अनुष्ठान को सम्प्रज्ञात योग कहा है। दौलतराम कृत छहढाला में ध्यान-ध्याता-ध्येय त्रिपुटी की अवस्था को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

जहाँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेदन जहाँ। चिद् भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना क्रिया तहाँ।।6।।

समाधि अनुष्ठान द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ का साक्षात्कार, क्लेश-नाश शुभाशुभ कर्म विनाश तथा निरुद्ध चित्त में सात्विक वृत्ति का निरोध करते हुए असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि होती है। जैन दर्शन में मोक्ष के लिए शुभाशुभ वृत्तियों का निरोध जरूरी माना गया है।

(ब) असम्प्रज्ञात समाधि - सविकल्प समाधि की पराकाष्ठा धर्ममेघ समाधि है। पूर्रूपेण वृत्ति-शून्य चित्त में जब सच्चिदानन्द स्वरूप का स्फुरण होता है तभी असम्प्रज्ञात-समाधि होती है।

(स) निर्बीज समाधि - श्रवण, मनन एवं ध्यान के अभ्यास द्वारा धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। परम विरक्ति प्रधान प्रज्ञा के प्रसाद से अनुगृहीत आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार करती है और इस प्रकार निर्बीज योग प्राप्त होता है यद्यपि द्विविध समाधियां जीवन मुक्ति के लिए अपेक्षित कही जाती हैं तथापि निर्विकल्पक समाधि तो जीवन्मुक्ती की ही होती है।

<u>योग वशिष्ठ में वर्णित चौदह गुण श्रेंणियां</u>-

योग वशिष्ठ में वर्णित चौदह गुण श्रेंणियों को दो प्रमुख उप-विभागों में रखा गया है। प्रथम विभाग में इन सात भूमियों का समावेश किया गया है जिनका सम्बन्ध अज्ञान से है तथा अंतिम सात भूमियों में उन अवस्थाओं को सम्मिलित किया गया है जिनका सम्बन्ध ज्ञान या जाग्रत स्थिति से है।

(अ) **अज्ञान की सात अवस्थाऐं-** अज्ञान की ये सात अवस्थाऐं **ज्ञानसार** में निम्नवत् रूप में वर्णित की गई हैं- **तत्रारिपिततमज्ञान तस्य भूमिरिमः श्रृणु । बीजजागृत्तथा-जागृत-महाजागृत-सुशुप्तकम।। जागृतस्वप्नस्तथा-स्वप्नःस्वप्नजागृत-सुशुप्तकम। इति सप्तविधौ मोहः पुनरेव परस्परम् ।। (ज्ञानसार पूर्णताष्टक)**

भावार्थ-

(1) **<u>बीजजाग्रत अवस्था</u>-**

भविष्यच्चित-दिनामशब्दार्थभाजनम्। बीजरूप स्थितं जागृत बीज जागृतमुच्यते।।

यह चेतना की प्रसुप्त अवस्था है जो वनस्पति जगत की स्थिति के समकक्ष है। यहाँ अहम् भाव की अनुभूति जागृत नहीं होती। जैन सिद्धान्त के अनुसार ऐसे वनस्पतिकाय जीवों में चेतना के और अधिक विकास की क्षमता होते हुए भी व्यक्त नहीं हो पाती मात्र बीजरूप में ही इसका अस्तित्व रहता है इसीलिए इसे बीजजागृत अवस्था कहा जाता है।

(2) जाग्रत अवस्था -

एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जागृत्संसृति श्रृणु । नवप्रसूतास्य परादयं चाहमिदमिदं च मम ।।

अहम् और ममत्व के अत्यल्प विकास की अवस्था जाग्रत स्थिति मानी जा सकती है। यह पशुजगत के (त्रस या त्रियञ्च) कीट पतंगो आदि असंज्ञियों में पाई जाती है। यहाँ अल्पांश में ही अहम् भाव रहता है।

(3) महाजाग्रत अवस्था-

पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजागृदिति स्फुरन् । अरूढमथवारूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्।।

इस अवस्था में अहम् भाव की विशेष पुष्टि होती है। यहाँ ममत्व के पूर्ण विकास व आत्म चेतना (कार्य करने की शक्ति) की स्थिति को समझा जा सकता है। यह अवस्था देव या सैनी पंचेन्द्रियों में होती है।

(4) जाग्रत स्वप्न अवस्था -

यज्जागृतो मनोराज्यं जागृतस्वपनः स उच्चते । द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्य मृगतृष्णादि-भेदतः ।।

यह मनोकल्पना या दिवा स्वप्न की अवस्था है इसमें भ्रम युक्त व्यक्तित्व की उपस्थिति होने से मृगमरीचिका रहती है। इसके चलते वह जीव विषयवासनाओं में लीन रहता है।

(5) स्वप्न (निद्रित) अवस्था -

अभ्यासात् प्राप्य जागृत्वं स्वप्नोनेक विधोमभवेत् । अल्पकालं मया दृष्टं एवं नो सत्यमितयपित ।।

इस अवस्था की अनुभूतियों को नींद के पश्चात् जागने की चेतना के रूप में समझा जा सकता है। इस दशा में स्वप्न में देखी वस्तु भी सत्य प्रतीत होती है।

(6) स्वप्न जाग्रत अवस्था -

निद्राकालानुभूतेर्ये निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः । स स्वप्नः कथितस्यान् महाजागृत्स्थितेर्हृदि ।।
चिरसंदर्शनाभावाद् प्रफुल्लवृहदवपुः । स्वप्नो जागृतयारूढो महाजागृत्पदं ततः ।।
अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजागृन्सतं हि तत्। षडवस्था परित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः।।

यह एक प्रकार की स्वप्निल चेतना है जो जागते हुए सपने देखने के समान है। इसमें देखे हुए स्वप्नों की अनुभूति या स्मृति जीव के हृदय में लम्बे समय तक अंकित रहती है।

(7) सुषुप्ति अवस्था -

भविष्दुःखबोधादया सोषुप्ति शोच्यते गतिः। एते तस्यामवस्थायां तृण-लोष्ठ शिलादयः।।

आत्म चेतना की सत्ता होते हुए भी यह जड़ता (स्वप्न रहित निद्रा) की अवस्था है। जीव अपनी आत्मा के कर्मावरणों के प्रति शोक तो करता है किन्तु जड़ता के कारण वासनात्मक प्रवृत्तियों को हटा नहीं पाता। **मंगतरायकृत बारह भावना** में सारभूत रूप में अज्ञान की सात

स्थितियों को लेकर इस प्रकार स्पष्टता की गई है - **जल नहिं पावे प्राण गमावे भटक भटक मरता। वस्तु पराई माने अपनी भेद नहीं करता।।**

(ब) <u>ज्ञान की सात भूमिकाऐं</u>— ज्ञान की 7 भूमिकाओं को निम्न-लिखित श्लोकों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया सु तृतीया तनुमानसा।।
सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततो संसक्तित नामिका। पदार्था-भाविनी षष्ठी स्प्तमी तुर्यगा स्मृता।।

(उ.प्र.स. पृ.118)

(1) शुभेच्छा अवस्था -

स्थितः किं मूढ ? एवास्मि प्रेक्ष्येहं शास्त्र-सज्जनैः। वैराग्य-पूर्व-मिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः।।

इस भूमि में वैराग्य भावना के उदय से जीव शुभोपयोग का सम्यक् बोध प्राप्त करता है। इस अवस्था में वह स्वयं से संवाद करता है कि हे आत्मन्! तू इतना मूढ़ क्यों हो रहा है? हाँ, मैं सचमुच मूढ़ तो हूँ किन्तु अब शास्त्र व सद-संगति से निजस्वरूप को कल्याण की भावना के साथ समझूँगा।

(2) विचारणा अवस्था -

शास्त्र-सज्जन-संपर्क-वैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवत्तिर्या प्रोच्यते सा चिचारणा।।

इस दशा में साधक सदाचार में प्रवृत्त रहने का निर्णय करता है और अणुव्रतों के पालन में प्रवृत्त हो जाता है। इसकी तुलना 5वें देशविरत नामक गुणस्थान से की जा सकती है।

(3) तनुमानसा अवस्था -

विचारणा शभेच्छाभ्यामिनद्रियार्थे एवं सक्तता। वक्त्रं यात्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा।।

यह इच्छाओं और वासनाओं के क्षीण होने की अवस्था है। इस अवस्था में यह कहना उचित होगा कि साधक की इच्छाओं और वासनाओं के प्रति आसक्ति क्षीण-प्राय (तनुभाव शेष) हो जाती है। इसे छठवें गुणस्थान के समकक्ष माना जा सकता है।

(4) सत्वापत्ति अवस्था -

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ततेर्थे विरतेर्वशात्। सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्वापत्तिरुगाहृता।।

यह शुद्धात्म स्वरूप की वह अवस्था है जो जीव को बाहय पदार्थों से विरक्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। यह आत्मा में शुद्ध परिणामों की स्थिरता का प्रतीक है।

(5) संसक्ति अवस्था -

दशाचतुष्टयाभ्यासादंससर्ग-फलेन च। रूढसत्वचमत्कारात् प्रोक्ता संसक्तिनामिका।।

यह आसक्ति के विनाश की असंसर्ग या अनासक्ति के परिपाक की अवस्था है जिसमें चित्त के अन्दर निरातिशय आत्मानन्द का अनुभव हो जाता है।

(6) पदार्थभावनी अवस्था-

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्। आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्।।

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थ-भावनात्। पदार्थभावना नाम्नी षष्टी संजायते गतिः।।

यह भोगेच्छा के पूर्णतः विनाश की अवस्था है जिसमें बाह्य और अभ्यन्तर पदार्थों की भावना दृढ़तापूर्वक छूट जाती है और शरीर की स्थिति भी पर प्रयोग के निमित्त (त्रियोग जनित) से रहती है जीव की इच्छा पर संचालित नहीं होती।

(7) तुर्यगा अवस्था -

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः। यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगागति।।

यह देहातीत विशुद्धि व आत्मरमण की अवस्था या मुक्तावस्था है। इसे जीवान्मुक्त अवस्था कहते हैं। इस भूमि की तुलना 13वें गुणस्थान के उत्तरार्ध से की जा सकती है।

उपरोक्त चौदह भूमियों का गुणस्थान से तुलनात्मक विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि योगवशिष्ठ में वर्णित प्रथम सात अवस्थाऐं मिथ्यात्व गुणस्थान तथा अधिकतम तृतीय मिश्र गुणस्थान के साथ समतुल्यता रखती है जिसे आध्यात्मिक अविकास कहा जाता है। ज्ञान की सात भूमियों में से पहली तथा दूसरी का पूर्वार्ध चतुर्थ सम्यक्त्व गुणस्थान जैसा है जिसमें साधक सम्यग्दर्शन के साथ आध्यात्मिक यात्रा की ओर आरम्भिक कदम रखता है इस द्वितीय भूमि का उत्तरार्ध तथा तीसरी भूमि का पूर्वार्ध देशविरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त गुणस्थान के समान प्रगति पथ पर बढ़ने का प्रयास है। तीसरी भूमि के उत्तरार्ध में 8-9वें गुणस्थान जैसी अनुभूति की अपेक्षा की जा सकती है। चौथी भूमि की समानता 10वें और 11वें गुणस्थान से कर सकते हैं जबकि पाँचवी असंशक्ति भूमि में जीव के परिणाम 12वें गुणस्थान के समकक्ष प्रतीत होते हैं। इसी क्रम में छठवी भूमि की लाक्षणिकताऐं सयोग केवली गुणस्थान से मिलती-जुलती है। समीक्षात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि योगवशिष्ठ में वर्णित 14 श्रेंणियाँ भले ही ज्यों की त्यों मेल न खातीं हों फिर भी दोनों दर्शनों के अभिगम लक्ष्य सिद्धि के पथ को लेकर उच्चस्तर पर साम्यता का परिमाण मिलता है।

<u>योग दर्शन में आध्यात्मिक विकास की अवस्थाऐं-</u>

योग साधना का अंतिम लक्ष्य है। चित्त निरोध अर्थात् (मन) योगिक चंचलता (मन,वचन,काय) को काबू में रखना ही योग निरोध है। इसलिए योग भी चित्त का धर्म है। दुःख और व्याकुलता से मुक्ति एवं शाश्वत सुख की अनुभूति हेतु इसका नष्ट होना अपरिहार्य है। "चित्त में सत्व- रजत-तमस इन तीन गुणों की विद्यमानता रहती है।" वास्तव में यह अस्थिरता राग-द्वेषादि, संकल्प- विकल्प के चलते उत्पन्न होती है। चित्त की विशष्टता को उसकी पाँच अवस्थाओं अथवा भूमियों के माध्यम से समझा जा सकता है-

(1) मूढ़ अवस्था- यह तमोगुण प्रधान अवस्था है जहाँ अज्ञान और आलस्य का साम्राज्य होता है। ऐसा जीव अधर्म व अवैराग्यादि विषयों में प्रवृत्त होता है। जैन दर्शन इसे मिथ्यात्व के रूप में वर्णित करता है।

(2) क्षिप्त अवस्था- यह रजोगुण प्रधान अवस्था है जिसमें भौतिकता के प्रति अनुराग, आसक्ति या मूर्छा होती है, विषय-वासना युक्त चंचलता होती है तथा जीव वासनाओं का दास होने से दुःखी रहता है। यह मिश्र गुणस्थान से तुलनीय है।

(3) विक्षिप्त अवस्था - चित्त की थोड़ी कम चंचलता ही विक्षिप्त चित्तमय है। इसका आशय भोगों से विरति या निष्क्रियता अथवा प्रयास पूर्ण अल्पता की आरम्भिक स्थिति से लिया जा सकता है जहाँ तमो और रजोगुण का सत्वगुण से संघर्ष आरम्भ होता है। साधक तमो-रजो प्रवृत्तिपरक भावों को दबाने का प्रयास करता है जबकि ये शुभा-शुभ कर्म उसे विक्षोभित करते हैं। इसकी आरम्भिक दशा की तुलना सम्यगदृष्टि गुणस्थान से तथा उत्तरार्ध को पाँचवें और छठवें गुणस्थान के समीप माना जा सकता है। बौद्ध परम्परा में यह स्रोतापन्न भूमि के निकट प्रतीत होती है।

(4) एकाग्र अवस्था - रजो-तमो वृत्तियों का निरोघ करके सात्विक वृत्तियों की प्रधानता से सदैव एक ही विषय का ध्यान एकाग्र चित्त कहलाता है इससे रजो तथा तमो वृत्ति का निरोध होता है लेकिन सात्विक वृत्ति शेष रहती है। इसी में संप्रज्ञात योग होता है। यह चेतना की पूर्ण जाग्रत अवस्था है जहाँ वासनाओं को क्षीण (जीर्ण-शीर्ण) कर साधक सातवें से 12वें गुणस्थान समकक्ष तक की विकास यात्रा तय करता है।

(5) निरुद्ध अवस्था - इस भूमि में साधक चेतन स्व-स्वरूप में स्थिर होकर हर तरह के परिणामों का पूर्ण निरोध करता है। त्रिविध वृत्तियों का निरोध करने पर जब चित्त संस्कार मात्र अवशिष्ट रहता है तब निरुद्ध कहा जाता है। 13वें और 14वें गुणस्थान की विशिष्टताओं के समकक्ष इसे रखा जा सकता है।

समीक्षा-

अंत में यह कहा जा सकता है कि योग दर्शन विश्व और भारत के प्राचीन दर्शनों में से एक है। सैद्धान्तिक तौर पर इसमें भी आध्यात्मिक विकास की क्रमबद्ध व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है जैला कि जैन दर्शन में वर्णित गुणस्थान अभिगम में प्रवधान हैं। यद्यपि गुणस्थान श्रेणियां योग दर्शन में ज्यों की त्यों नहीं मिलती तथापि समान भावना वाली आध्यात्मिक विशुद्धि की भिन्न अवस्थाओं कमेश इनके साथ व समकक्ष अवश्य रखा जा सकता है। इसका अर्थ इतना अवश्य निकलता है कि गुणस्थान आध्यात्मिक उत्थान पतन की जिन व्यवस्थों का उल्लेख करता है वह निरी कल्पना मात्र नहीं है अपित तार्किकता व नैतिकता की कसौटी से बाहर निकले सैद्धान्तिक व्यवहारों का सामान्यीकरण है।

(द) <u>वर्ण व्यवस्था में निहित आध्यात्मिक विकास के प्रतिमान एवं गुणस्थान</u>

<u>भूमिका-</u>

वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति की वह अमूल्य धरोहर है। यह समन्वित विकास की दिशा में मानव समुदाय की वह निधि है जिसके द्‌वारा मानव अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध कर समयसर अपनी सफलता के मंजिलों के पायदान चढ़ता चला जात है। इसमें मानव जीवन के सम्पूर्ण आयुष्य का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आयोजनबद्ध विभाजन को दर्शाया गया है। आयु के किस हिस्से का मकसद क्या होना चाहिए और क्यों। अपनी व्यावहारिक जिम्मेदारियां निभाते हुए कैसे निश्चयनय के आधार को उत्तरोत्तर सुदृढ़ किया जा सकता है। यह क्रमबद्ध रूप से मानव समुदाय को व्यक्तिगत रूप से गुणों से युक्त करने की व्यवस्था है जिसमें आग्रिम अवस्था में परिवर्तन के साथ गुणों के विकास की अवस्था में वृद्धि होती है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की यही दशा गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में जानी जाती है। गुणस्थान का सीधा सम्बन्ध यूं तो जैन दर्शन से माना जाता है किन्तु भारत के प्रायः सभी प्रमुख दर्शनों में आध्यात्मिक विकास की बात अपने अपने तरीके से की गई है। इसमें कितनी समानता देखने को मिलती है और कितनी विविधता- यह जानना भी अभ्यास की दृष्टि से तर्कसंगत लगता है। इससे गुणस्थान की अवधारणा की लोक या सार्वभौमिक स्वीकार्यता की झलक मिलती है और वहीं दूसरी ओर इस धार्मिक अवयव को वैज्ञानिक आधार मिलता है ।

<u>हिन्दू वैदिक संस्कृति में जीवन की चार अवस्थाऐं एवं गुणस्थानलक्षी साम्य -</u>

हिन्दू वैदिक संस्कृति में जीवन की चार अवस्थाओं के माध्यम से नैतिक व आत्मिक स्थितियों की बात कही गई है जिन्हैं यहाँ वर्ण व्यवस्था के चार आश्रम कहा गया है - (1) ब्रहमचर्य (2) गृहस्थ (3) वानप्रस्थ एवं (4) संन्यास। गुण धारण के लक्षणों के आधार पर इन चार वर्णाश्रम की व्यवस्था में जिन ध्येयों को प्रधानता दी जाती है वे निम्न लिखित हो सकते हैं-

1. सीखना, जाननाः सम्यक ज्ञान व दर्शन की अनुभूति
2. निष्काम पुरूषार्थ व सांसारिक दायित्वों का नैतिकता के साथ निर्वाह
3. आसक्ति रहित जीवन व्यवहार का अभ्यासः राग द्‌वेष आदि विकारी भावोंको हटाना, ममत्व व तृष्णा में कमी तथा पंचेन्द्रिय संयम।

4. आत्म साधना हेतु सांसारिकता का त्याग एवं कठोर तपस्चर्या का आचरण

जैन दर्शन का आगम ग्रंथ षट्खण्डागम जीव के गुणस्थान संबंधी स्थितियों को विवेचन करता है। यह बताता है कि आध्यात्मिक किस अवस्था तक पहुँचने के लिए किन गुणों का होना जरूरी है। जो गुण सहित है वही गुणी है। गुण सहित होने की प्रतीति दो रूपों में होती है- द्रव्याचरण और भावाचरण। द्रव्याचरण से हमारा आशय लौकिक व्यवहार या क्रियाओं से है तथा भावाचरण का आन्तरिक विशुद्धता से है जिसकी आत्मिक विकास में अहम् भूमिका होती है। वेश, कर्मकाण्डीय प्रथाएं आदि लौकिक नैतिकता का प्रतिनिधित्व करती हैं इससे ऊपर की अवस्थाओं में आरोहण हेतु दृढ़ भाव की विशुद्धि की अनिवार्यता बढ़ जाती है। आत्म विशुद्धि की यात्रा में विकारी परिणामों पर जय पाने हेतु उपशम व क्षय दो महत्वपूर्ण विधियां हैं। उपशम विधि के तहत विकारी भावों का बढ़ना तो रूकता है किन्तु उसका प्रभाव अल्पकालिक रहता है। क्योंकि इस विधि को अपनाने में इन भावों को रोकने की दृढ़ता व आत्मविश्वास का स्तर व्यक्ति में निम्न पाया जाता है और समय के साथ इसकी पकड़ ढीली पड़ते ही विकारी भावों का प्रभुत्व पुनः बढ़ जाता है तथा इसी के चलते वर्तमान अवस्था से पतोन्मुख हो जाता है। इसके विपरीत आत्यात्मिक उत्थान की अन्य विधि क्षय है जिसमें व्यक्ति का अपने संकल्पों के प्रति आत्मविश्वास व दृढ़ता का स्तर प्रबल पाया जाता है और वह अपनी अर्जित गुण ग्रहण स्थिति से पतित नहीं होता विकास पथ में उसके कदम डगमगाते नहीं हैं।

वर्ण व्यवस्था में मानव जीवन की उत्कृष्ट आयु सौ वर्ष मानते हुए प्रत्येक आश्रम का काल पच्चीस वर्ष माना गया है। यहाँ क्रमानुसार व्यक्ति अगले आश्रम में प्रवेश करता चला जाता है। यही नैतिक विकास यात्रा के आधार स्तंभ हैं। वर्ण व्यवस्था के चार आश्रम और गुणस्थान की स्थितयों का विश्लेषण इस प्रकार समझा जा सकता है-

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम-

आरम्भिक पच्चीस वर्ष संयम व स्व- अनुशासन के साथ ज्ञानार्जन में व्यतीत करना, सच्चे ज्ञान को ग्रहण करना तथा वास्तविक जीवन का अभ्यासी बनना ही ब्रह्मचर्य आश्रम है। आचार्य तुलसी कहते हैं- निज पर शासन फिर अनुशासन। गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान तक ऊपर की और बढ़ने हेतु सम्यकत्व के ज्ञान की बात पर बल दिया गया है और इस आश्रम व्यवस्था के प्रथम चरण में इसी साधना की बात कही गई है जो इसकी साम्यता प्रकट करती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति को न सिर्फ सम्यकत्व का बोध होता है अपितु चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर की स्थितियों के समरूप अनुशासनबद्ध व्यवहार का प्रयोगात्मक अनुभव शिक्षण के तहत कराया जाता है जो उसके ग्रहस्थाश्रम में प्रवेश एवं नीतिमत्तापूर्ण जीवन

यापन के दायित्व निर्वाह में सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार से यह पाँचवे देशविरत गुणस्थान की आरम्भिक स्थिति की पूर्व तैयारी से सरोकार रखता है।

(2) गृहस्थ आश्रम-

यह आश्रम एक सद्-गृहस्थ के रूप में अपने नियत दायित्वों से जुड़ा है। गृहस्थी का उपयोग करते हुए भगवद भक्ति को न विसराना, उचित-अनुचित के भेद को सदैव अपने व्यवहार में अमली बनाना तथा इस प्रकार से कार्य करना जिससे दूसरों का नुकसान न हो यही गृहस्थाश्रम की विशिष्टताऐं हैं। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए आत्म चिन्तन को न भूलना और भौतिक सुख सुविधाओं के प्रति ममत्व इतना न बढ़ा लेना कि जिससे उसके न होने पर दुख व होने पर अतिरेक खुशी का अहसास हो। गुणस्थान की स्थितियों के संदर्भ में ग्रहस्थाश्रम पाँचवे गुणस्थान तक ही श्रावक को ले जाता है।

(3) वानप्रस्थ आश्रम-

यह आध्यात्मिक विकास यात्रा का पूर्वार्ध मुकाम है। गृहस्थाश्रम के पश्चात् व्यक्ति को इच्छा या इन्द्रिय निरोध करना होता है। जिस प्रकार ब्रहमचर्य आश्रम सद ग्रहस्थ का जीवन जीने हेतु शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्य करता है ठीक उसी प्रकार वानप्रस्थ आश्रम वैराग्य की परिणति की ओर पहला कदम है जिसमें ग्रहस्थ उत्कृष्ट श्रावक बनकर शुभाचरण के स्थान पर अब शुद्धाचरण का अभ्यास करने लगता है। अपना ममत्व संसारी वस्ततुओं से हटाने लगता है। ग्रहस्थी में रहते हुए भी ग्रहस्थ न होने का अहसास ही वानप्रस्थ आश्रम की दशा है। जिस प्रकार छः खण्ड के चक्रवर्ती महाराज भरत को घर में ही वैरागी कहा जाता था। वे संसार में रहते हुए ब्रहमज्ञान के साधक थे। इसलिए यह भी कहा जाता है कि इस विरक्त भाव के चलते ही उन्हें कपड़े उतारते ही केवलज्ञान हो गया था। द्रव्यलिंगी गुणस्थानक अवस्थाओं के आधार पर तो वानप्रस्थ आश्रम पाँचवे गुणस्थान का उत्तरार्ध व छठवें गुणस्थान के पूर्वार्ध के समकक्ष है किन्तु यहि महाराज भरत का ही उदाहरण लें तो गुणस्थान की भावलिंगी अवस्थाओं में ये 10 से 12 वें गुणस्थान तक की स्थिति है।

4- संन्यास आश्रम-

संन्यास का सामान्य शब्दार्थ है प्रकट और अप्रकट वस्तुओ में मोह या ममत्व रहित न्यास (Trusteeship) भाव। लाभ-हानि, राग-द्वेष जैसे विकारों से परे होकर अपनी आत्मा के चिन्तन में मगन होता है। वह मानव जीवन का अंतिम एवं सर्वोत्कृष्ट आश्रम है संन्यास। सांसारिक वृत्तियों का पूर्ण निरोध की साधना इस आश्रम में रहकर की जाती है। मोह-माया व राग-द्वेषादि से दूर वह परमात्म प्राप्ति का पुरुषार्थ एकाग्र होकर करता है तथा परम सिद्धि को प्राप्त करता है। संन्यास आश्रम छठवें गुणस्थान से आगे के समस्त गुणस्थानों का

समावेश करता है जिसमें समकत्व के आचरण वाली महाव्रती की द्रव्यलिंगी अवस्थाओं तथा उत्तरोत्तर क्षय की दृढ़ता के साथ आगे साधना पथ पर बढ़ते हुए भावलिंगी अवस्थाओं स गुजरकर 14वें गुणस्थान तक पहुँचने की क्रियाएं इस आश्रम में सम्मिलित मानी जा सकती हैं।

मनु ने मानव जीवन को नीतिमय व धर्माचरण के अनुरूप बनाने हेतु निम्न लिखित दस गुणों को आवश्यक माना है – **धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।** **धृति** का अर्थ है धैर्य, सन्तोष, दृढ़ता, आत्मनिर्भरता स्वावलम्बन। क्षमा का अर्थ है समर्थ होकर भी दूसरों के अपकार को सहन करना। **दम**- मन का नियमन या नियन्त्रण करना ही दम कहलाता है। मन के संयम के अभाव में मनुष्य काम-क्रोध आदि के वश होकर पथ भ्रष्ट हो सकता है। **अस्तेय**- अस्तेय का अर्थ है अन्याय से, छल-कपट या चोरी से दूसरों की वस्तु का अपहरण करना । **शौच** का अर्थ पवित्रता से लिया जाता है। यह दो प्रकार से होती है- मृतिका और जल आदि से शुचि जो बाह्य शौच है जबकि दया, परोपकार, तितिक्षा आदि गुणों से आभ्यन्तर शौचमाना जाता है। **इन्द्रिय - निग्रह** - शब्दादि विषयों की ओर जाने वाली चक्षुरादि इन्द्रियों को अपने वश में रखना इन्द्रिय निग्रह है। तत्व ज्ञान को ही **धी** कहते हैं। **विद्या** का अर्थ है आत्म ज्ञान। यथार्थ बात को कहना ही **सत्य** है। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध का उत्पन्न न होना **अक्रोध** है।

समीक्षा-

जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से यदि इन आश्रमों की सोपान स्थितियों का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि जैन दर्शन में मूलतः दो स्थितियाँ ही हैं— गृहस्थ और संन्यास। हालांकि गृहस्थ स्थिति के उपभेद हो जाने से गृहस्थ व वानप्रस्थ आश्रम का संयुक्त रूप जैन दर्शन युत इस अवस्था में देखा जा सकता है यथा चतुर्थ व पंचम गुणस्थानधारी सम्यक्त्वी गृहस्थ इस आश्रम का अधिकारी है किन्तु उस की क्रियाऐं पंचम गुणस्थान में अति उत्कृष्ट श्रावक की हो जाती है जो वानप्रस्थ आश्रम की अवस्था से कमोवेश मेल खाती प्रतीत होती है। वैदिक परम्परा में संन्यास की एक अवस्था को ही देखा जाता है जबकि गुणस्थानक परम्परा में आन्तरिक एवं बाह्य आचरण के आधार पर कई भेद-विभेद कर दिये गये हैं यथा सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक। इसमें उत्थान पतन दोनों के ही विधान हैं जबकि आश्रम व्यवस्था में इस तरह की व्यवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि दोनों ही दर्शनों में आध्यात्मिक उत्थान पथ की मूल भावनाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है।

गुणस्थान पथ में हार तो है ही नहीं, है तो सिर्फ जीत का परिमाण। यहाँ कोई किसी का मार्ग अवरोधक नहीं बनता अपितु जीत के मार्ग पर अग्रसर होने के समय सहधर्मी साधक वात्सल्यपने का भाव लिए अभिप्रेरक बनता है। इसमें न राग होता है और न ही द्वेष, सिर्फ होता है सहपथअनुगामी के प्रति निश्कांछित प्रेम"। इस प्रकार का अनोखा प्रगति पथ गुणस्थान ही है जो अपने सहअभ्यासी साधक जीवों को प्रेम व सहकार की भावना के साथ प्रेरणात्मक संवेग प्रदान करता है इस लौकिक दुनिया के मान्य प्रतिमानों के विपरीत समर्पित श्रद्धानुगामी साधक गुणस्थानक अवस्थाओं की जरूरतों के अनुरूप स्वयं को ढालते हुए परम-सिद्ध पद में लीन होकर चिर आनन्द की अनुभूति करता है।

अंत में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि गुणस्थान अवधारणा के तार एक सुखमय मानव जीवन व मानवीय मूल्यों से जुड़े हुए हैं। इसमें निहित हैं जियो और जीने दो, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय जैसे मूल्य जो न सिर्फ मानव जाति की अपितु समग्र जीव सृष्टि का उद्धार करने में निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं।

*****

उपसंहार

मानवीय मनो-सामाजिक उपादेयता की विकास यात्रा पथ में..... गुणस्थान अध्ययनः

गुणस्थान आध्यात्मिक विकास यात्रा के सोपानो समझने का एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। जो जैन धर्म के विविध ग्रंथो, शाश्वत अभिगम तथा विश्व के अन्य धर्मों में वर्णित आध्यात्मिक विकास के सोपानों के साथ सीधा सरोकार रखता है। इन सभी में हूबहू समानता परस्पर दृष्टिगत नहीं होती तो सीधा विरोध भी देखने को नहीं मिलता। गुणस्थान में राग द्वेष रहित सम्यकत्वी सोच आरम्भिक चरण में आकार लेती है जो मानव समाज की वैचारिक विशुद्धता का प्रतिनिधित्व करती है। इस अभिगम को समझकर तथा इस दिशा में विवेकपूर्ण आचरण करके मानव समाज में परस्पर समभाव की प्रथा कोअपनाने की ओर अग्रसर होता है (भौतिकतावाद तथा आध्यात्मिक विकास के मध्य संतुलन स्थपित करता है, तथा धीरे धीरे सतत भौतिकवादिता से ऊपर उठकर मानवीय व आध्यात्मिक मूल्यो में सोच को दृढ़ करता जाता है, संयमित जीवन में अपनी आस्था को निरंतर मजबूत करते हुए सभी के लिए संसाधनों का उपयोग सुलभ बनाता है, प्रकृति के घटकों का अनावश्यक विनाश को बुरा मानता है और सर्व के अस्तित्व के प्रति संवेदनशील बनता है। गुणस्थान विकास यात्रा के अग्रिम चरणों में(देशव्रती आचरण) वह स्पष्ट समझ के इस सोच पर अमल करना आरम्भ करता है जिससे उसकी कथनी करनी का भेद समाप्त हो जाता है। इससे परस्पर विश्वास की जड़े मजबूत होती हैं। संसाधनों के प्रति आसक्ति अर्थात् मोह का क्षय होने से समाजिक विकारों की जड़ो- जर ,जोरु, जमीन आदि को पोषण ही नहीं मिल पाता जो संघर्ष रहित शांतिपूर्ण स्वस्थ समाज की नींव रखी जा सस्थापना की ओर ले जाता है। गुणस्थान विश्लेषण का मनोवैज्ञानिक पक्ष व्यक्ति को समाज एवं सम्पूर्ण समष्टि या सृष्टि के हितों के साथ साम्य स्थापित करने में आन्तिरिक शक्तियों को दृढ़ बनाते हुए सोच को स्पष्ट करता है जिससे वह आवश्यकताओं को उपलब्ध संसाधनों की तुलना में अत्यंत मर्यादित (संयमित) करके परम संतुष्टि का अनुभव करने लगता है, आपाधापी, अनावश्यक संग्रह की वृत्ति की भागदौड़ एवं अनैतिक तथा अविवेकपूर्ण व्यवहारों पर रोक लगाकर स्व विकास की ओर उनमुख होता है। उसमें सकारात्मक मनोवृत्ति का प्रसार होता है, मोहांधता की जगह स्नेहिल वात्सल्यता रहती है तथा उचित अनुचित का बोध रहता है। गुणस्थान की अवधारणा में संसार से जुड़ी अवस्थाओं (4-5 गुणस्थान) में रामराज्य की कल्पना को साकार करने का वातावरण निर्मित करने का पूर्ण अवकाश मिलता है। यह भावनात्मक विशुद्धि मनो-सामाजिक व्यवहारों को मानवीयता के क्षितिज पर उत्कृष्टता प्रदान करने में अहम् भूमिका निभा सकती

है। संघर्ष रहित समाज की दिशा में सोचें तो हम पाते हैं कि गुणस्थान पथ में हार तो है ही नहीं, है तो सिर्फ जीत का परिमाण। यहाँ कोई किसी का मार्ग अवरोधक नहीं बनता अपितु जीत के मार्ग पर अग्रसर होने के समय सहधर्मी साधक वात्सल्यपने का भाव लिए अभिप्रेरक बनता है। इसमें न राग होता है और न ही द्वेष, सिर्फ होता है सहपथअनुगामी के प्रति निश्कांछित प्रेम। इस प्रकार का अनोखा प्रगति पथ गुणस्थान ही है जो अपने सहअभ्यासी साधक जीवों को प्रेम व सहकार की भावना के साथ प्रेरणात्मक संवेग प्रदान करता है इस वर्तमान लौकिक दुनिया के सफलता मानक प्रतिस्पर्धी मान्य प्रतिमानों के विपरीत। समर्पित श्रद्धानुगामी साधक गुणस्थानक अवस्थाओं की जरूरतों के अनुरूप स्वयं को ढालते हुए परम-सिद्ध पद में लीन होकर चिर आनन्द की अनुभूति करता है। जीव जब तक संसार में रहेगा तब तक शास्वत सुख की प्राप्ति नहीं होगी मोक्ष पाकर ही उसे शास्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है मोक्ष ही चरम लक्ष्य है।

अंत में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि गुणस्थान अवधारणा के तार एक सुखमय मानव जीवन व मानवीय मूल्यों से जुड़े हुए हैं। इसमें निहित हैं जियो और जीने दो, बहुजन हिताय बहुजन सुखाय जैसे मूल्य जो न सिर्फ मानव जाति की अपितु समग्र जीव सृष्टि का उद्धार करने में निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं।

गुणस्थान सम्बन्धी शब्दावली

उत्कर्षण- स्थित्यनुभागार्थो बुद्धिः उत्कर्षण- गो.क.जी. प्र. 438।591। 14।
कर्म प्रदेशों की स्थिति को बढ़ाना अर्थात् स्थिति व अनुभाग की वृद्धि उत्कर्षण कहलाती है।

अपकर्षण- पदेसायां ठिदीणमावट्टाणा ओक्कडढणा णाम- धवला 10।4।2।4।21।53।2। कर्म प्रदेशों की स्थितिओं का अपवर्तन (घटना) अपकर्षण कहलाती है।

संक्रमण- पर प्रकृतिरूप परिणमन संक्रमणम्- गो.क.जी. प्र. 438।591। 14। जो प्रकृति पूर्व में बँधी हुई थी इसका अन्य प्रकृति रूप में परिणमन हो जाना संक्रमण है।

उदय- ते च वेय फलदाणसमए उदय ववएसं पडिवज्जति - (जय धवला पु.1 , पृ. 293)जीव से सम्बद्ध हुए वे ही कर्म स्कन्ध फल देने के समय में उदय की सज्ञा को प्राप्त होते हैं।

उदीरणा- का उदीरणाणाम। अपक्वा चरण मुदीरणा- (धवला 15।43।6।) उदय के लिए अपक्व कर्मों का पाचन करना उदीरणा है।

उपशम- कर्मों के उदय को कुछ संय के लिए रोक देना उपशम कहलाता है।

निर्घन्ति- जो कर्म प्रदेश न तो उदय में लाए जा सकें और न ही अन्य प्रकृति रूप परिणमित किए जा सकें, कर्मों की इस दशा को निर्घन्ति कहते हैं। एक समय में जितने परमाणु उदय में आते हैं उनके समूह को निषेक कहा जाता है।

निकाचित- जिस कर्म प्रदेशाग्र का न तो अपकर्षण किया जा सके और न ही उत्कर्षण तथा न ही अन्य उप प्रकृति में संक्रमण। जिसे न उदय में लाया जा सके और न ही जिसकी उदीरणा संभव हो उस प्रवेशाग्र को निकाचित कहते हैं।

अप्रमत्त- अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान के अंतिम समय में देवायु बन्ध की व्युच्छिन्ति होती है ।

उदय व्युच्छिन्ति- कर्मों की पलदान शक्ति का नष्ट होना उदय व्युच्छिन्ति है।

सत्व व्युच्छिन्ति- जब कर्मों का संवर होता है तब उनकी निर्जरा व क्षय भी होता है। इसी को सत्व व्युच्छिन्ति (कर्मों का सत्ता में न रहना व आत्म प्रदेशों का अस्तित्व समाप्त हो जाना) कहा जाता है। सात कर्म प्रकृतियों की सत्ता का क्षय करके वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है। वह अधिकतम चार भव तक संसार में रहकर नियम से मोक्ष होता है।

द्रव्यमीमांसा- द्रव्य अथवा त्तव बोध की जिज्ञासा जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अंश है। द्रव्य शब्द द्र धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है द्रवित होना या प्रवाहित होना। एक साथ अनेकान्त की सिद्धि के लिए गुणवद द्रव्यं ऐसा कहा जाता है। इसके तीन लक्षण हैं-

सद् द्रव्य लक्षणं। उत्पाद व्यय ध्रोव्य युक्तंसत्। गुणपर्ययवद द्रव्यं।

आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया के सोपान-

1.यथाप्रवृत्तिकरण- अज्ञानतापूर्वक दुःख संवेदनाजनित अत्यल्प आत्मशुद्धि को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। जीव संयोगवश आत्म-शुद्धि के द्वार के समीप पहुँचता है। यह मन पर नियन्त्रण करने की प्रक्रिया का आरम्भ है। सांसारिक दुखों को सहते-सहते उसका कर्मावरण वर्षों नदी के पानी में पड़े पत्थर की भाँति शिथिल हो चुका हो । इस अवस्था में

जैसे-जैसे वह आगे की ओर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे यथाप्रवृत्तिकरण की शक्ति के द्वारा उसे क्षयोपशम (जिससे विपाकशक्ति के द्वारा कर्म फल क्षीण होते हैं), विशुद्धि, देशना (ज्ञानीजनों से मार्गदर्शन प्राप्त होना) तथा प्रयोग (आयुष्य को छोड़कर अन्य कर्मों के प्रमाण का क्षय हो जाना) प्राप्त होता है।

2. अपूर्वकरण- इस अवस्था में सम्यक्त्व के बोध के चलते पूर्व में जो संयम या नैतिक आचरण की भूमिका तैयार की गई है उसे साहस के साथ अमल में लाकर भाव विशुद्धि की ओर बढ़ता है और आत्मा में निजस्वरूप या हल्केपन का अनुभव करता है जो इससे पूर्व उसे हुआ ही न हो इसीलिए यह अवस्था अपूर्वकरण कही जाती है। इस अवस्था में निम्नलिखित 5 क्रियाएं होती हैं-

(अ) **स्थितिघात**- कर्मविपाक की अवधि में परिवर्तन करना।

(आ) **रसघात**- कर्मविपाक व बन्धन की प्रगाढ़ता में कमी लाना।

(इ) **गुणश्रेणी**- कर्मों को ऐसे क्रम में रख देना जिससे काल से पूर्व इनका फल भोगा जा सके।

(ई) **गुणसंक्रमण**- कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों का रूपान्तर जैसे दुःखद वेदना को सुखद वेदना में परिवर्तित कर देना।

(उ) **अपूर्वबन्ध**- क्रियामाण क्रियाओं के फलस्वरूप होने वाले बन्ध का अत्यन्त अल्पकालिक व अल्पतर मात्रा में होना।

3. **अनिवृत्तिकरण-** इस स्थिति में राग-द्वेषादि कर्म प्रकृतियों का भेदन किया जाता है तथा पूर्व में वर्णित स्थितिघात आदि चरणों का दोहरावीकरण किया जाता है ताकि मिश्रमोह और मिथ्यात्व मोह को नेस्तनाबूत किया जा सके। ग्रंथिभेद की यह द्विविधि प्रकिया जीव के उत्थान काल में गुणस्थानक दृष्टि से दो बार होती है। प्रथम- गुणस्थान के अंतिम चरण में तथा पुनः 7वें-8वें और 9वें गुणस्थान में। एक (पहली में) में वासनात्मक प्रवृत्तियों का निरोध होता है तथा दूसरी में दुराचरण की प्रवृत्तियों का निरोध होता है।

<u>सप्त नय</u>- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय है।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढ़ैवंभूतानयाः ।।33।। त. सू. अ-1

नैगम नय- जो नय अनिव्यक्त मात्रा के संकल्प को ग्रहण करता है वह नैगम नय है। जैसे- लकड़ी पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले पुरुष से कोई पूँछता है कि आप क्या कर रहे हैं, तब वह उत्तर देता है कि रोटी बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा है तथापि नैगम नय उसके इस उत्तर को यथार्थ मानता है।

संग्रह नय- जो नय अपनी जाति का विरोध न करता हुआ एकपने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है उसे संग्रह नय कहते है। जैसे- सत, द्रव्य, घट आदि।

व्यवहार नय- जो नय संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधि पूर्वक भेद करता है वह व्यवहार नय है। जैसे सत के दो प्रकार है- द्रव्य और गुण। द्रव्य के छः भेद है- जीव,

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। गुण के दो भेद हैं- सामान्य और विशेष। इस तरह यह नय वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्र नय- जो केवल वर्तमान काल के पदार्थों को ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

शब्द नय- जो नय लिंग, संख्या, व कारक आदि के व्यभिचारों को दूर करता है वह शब्दनय है। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेद रूप में ग्रहण करता है। जैसे- दार(पु.) भार्या(स्त्री) कलत्र(न.) ये तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होकर भी स्त्री पदार्थ के वाचक हैं किन्तु यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद से तीन रूप मानता है।

समभिरूढ़ नय- जो नय नाना अर्थों का उल्लंघन कर एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे वचन आदि अनेक अर्थों का वाचक गो शब्द किसी प्रकरण में गाय अर्थ का वाचक होता है। यह नय पदार्थ के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है। जैसे- इन्द्र, शक और पुरन्दर ये तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं परन्तु यह नय तीनों के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

एवंभूत नय- जिस शब्द का जो क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारूप में परिणमते हुए पदार्थ जो मन ग्रहण करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं। जैसे- पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।

जीव के भाव-

औदायिक भाव-_निमित्तमूल कर्मों के उदय से होने वाले भाव औदायिक कहलाते हैं जैसे राग, द्वेष, अज्ञान, असंयम व रति आदि।

औपशमिक भाव-कर्मों के उपशम अर्थात् उदय रहित अवस्था में होने वाले भाव औपशमिक भाव कहलाते हैं किन्तु इनमें आत्म परिणामों की विशुद्धि चिर स्थाई नहीं होती है।

क्षयोपशमिक भाव- सामान्य मति- श्रुति ज्ञान, अणुव्रत पालन आदि क्षयोपशमिक भावों के उदाहरण हैं।

क्षायिक भाव- कर्म परमाणुओं के आत्म प्रदेशों से प्रथक हो जाने पर जो परिणाम होते हैं उन्हें जीव के क्षायिक भाव कहा जाता है जैसे केवल ज्ञान व केवल दर्शनादि।

पारिणामिक भाव- उपर्युक्त चार भावों के अतिरिक्त जीव के जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व व द्रव्यत्व आदि स्वाभाविक गुण होते हैं जिन्हें पारिणामिक भाव कहा जाता है।

श्रावक के षट कर्म-

देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयमस्तपः।
दान चेति ग्रहस्था नाम, षट कर्माणि दिनेदिने।।

शब्दों का पूरा नाम-

बा.भा. मं. - बारह भावना मंगतराय
छ. ढ. - छहढाला
त. सू. - तत्त्वार्थ सूत्र
द्र. सं. - द्रव्यसंग्रह

संदर्भ सूची

1. बा. ब्र. मूलशंकर देसाई -गुणस्थान, चाकसू का चौक, जयपुर राजस्थान।(मोक्ष सप्तमी वीर नि. सं. 2482 विक्रम सम्वत 2013
2. बा. ब्र. डॉ. प्रमिला जैन-गुणस्थान मंञ्जरी, बेतालीस दशा हुमड़ दिगम्बर समाज (चोखल पंच संचालित ट्रस्ट) डी-1 नटुभाई अपार्टमेंट, मोतीनगर सोसाइटी, नवरंगपुरा अहमदाबाद
3. आचार्य श्रीमत विजय सुशील सूरीश्वरजी(1993)- गुणस्थानक प्रश्नोत्तर सार्धशतक, श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति, राई का बाग, जोधपुर(राज.)
4. आचार्य श्री रत्नशेखर सूरीश्वरजी म. सा. (2003) - चौदह गुणस्थान, दिव्य संदेश प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई।
5. डॉ. सागरमल जैन (1996) -गुणस्थान सिद्धान्त- एक विश्लेषण, पार्श्वनाथपीठ, वाराणसी।
6. आचार्यपूर्वधर आचार्य विरचित, अनुवाद- साध्वी विद्यतप्रभाजी, सम्पादन एवं भूमपका डॉ. सागरमल जैन (1998)- जीवसमास , पार्श्वनाथपीठ, वाराणसी
7. जौहरीजी - आलोचना पाठ, पूजन-पाठ प्रदीप, पृ. 431, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन संस्थान, नई दिल्ली।
8. पं. दौलतरामजी- छहढाला, ज्ञानोदय विद्यापीठ।(संवत 1891 वैशाख शुक्ला तृतीया),
9. एस. चाँद मोहम्मद एवं डॉ. इकबाल फातिमा- भारतीय संस्कृति की विरासत, बुक इन्क्लेव- जयपुर(भारत)
10. पूज्यपाद - तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका
11. आचार्य नेमिचन्द्राचार्य- गोम्मटसार-जीवकाण्ड
12. योगदृष्टि समुच्चय
13. सम प्रोब्लम्स ऑफ जैन साइकोलोजी
14. आचार्य नरेन्द्र देव- बोधिपंजिका, उद्घृत् बौद्ध दर्शन
15. ज्ञनासार त्यागाष्टक (दर्शन व चिन्तन भाग- 2)
16. स्टडीज इन जैन फिलोसोफी।
17. दर्शन और चिन्तन भाग 2
18. भगवद गीता (टीका)- डॉ. राधाकृष्ण
19. कालिदास, रघुवंश
20. योगवशिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण,सर्ग -117 (दर्शन और चिन्तन)
21. जैन आचार
22. योग बिन्दु- समदर्शी आचार्य हरिभद्र

23. अद्वेतमार्तण्ड और शंकर वेदान्त- डॉ. शारदा गुप्ता, सह लेखिका डॉ. रमा शर्मा (2007) ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर नई-दिल्ली (2007)

24. श्री सदानन्द विरचित वेदान्तसार, सम्पादक- पण्डित श्री रामगोबिन्द शुक्लः, नव्य-न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य, प्रकाशक- भारतीय विद्या प्रकाशन (1)पो. बाक्स न.1108 कचौड़ीगली, वाराणसी (अगस्त, 1990)

25. व्यक्तित्व के गुणों का विश्लेषण सर्व प्रथम आलपोर्ट द्वारा प्रस्तुत किया गया । पहले उसने अँग्रेजी शब्द-कोष से 17953 सम्बंधित शब्द ढूँढ़े। उसमें से पुनः 4500 अति नजदीकी शब्दों को छाँटा। आर. बी. कैटल ने उनहैं 171 तथा पुनः 35 एवं अंतिम रूप में इन 12 विभागों में वर्गीकृत किया है।

26. श्रीमन्नेमिचनद्रसिद्धान्तिदेवविरचितः बृहदद्रव्यसंग्रह,(1989) श्री ब्रह्मदेवस्य संस्कृतवृत्तिः श्री जवाहरलालशास्त्रिप्रणीत हिन्दीभाषानुवाद चेति टीकाद्वयोपेतः, प्रकाशक- श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद राजचन्द आश्रम, आगास।

27. मोक्षशास्त्र टीका पं. पन्नालालजी जैन,दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत (1970)

28. जीव समास , जिन आराधना ट्रस्ट बम्बई-2 गाथा-6-82

29. नियमसार

30. अध्यातमघात

31. योगावतार द्वात्रिंशिका

32. मोक्खपाहुड़

33. आचारांग- श्रुतस्कन्ध

34. गोम्मटसार- जीवकाण्ड

35. प्रो. फूलचन्द्र जैन प्रेमी- संल्लेखना – मृत्यु को महोत्सव बनाने की अनुपम कला- तुलसी प्रज्ञा- बर्ष 35 .अंक.142 . जनवरी-मार्च, 2009 जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ-341 306(राजस्थान) भारत

36. डॉ. मोहन लाल शर्मा (1978) तर्कशास्त्र प्रवेश एक आधुनिक विवेचन हरियाणा साहित्य आकादमी चंडीगढ़

37. जार्ज टामस पे. व्हाइट वेटिक (1973) दर्शनशास्त्र का परिचय, उमेश्वरप्रसादमालवीय(अनुवादक) - हरियाणा साहित्य आकादमी चंडीगढ

38. ए. डी. वूजले (1971) ज्ञान मीमांसा परिचय,(डॉ.) गोवर्धन भट्ट(अनुवादक) बिहार हिन्दी ग्रन्थ आकादमी।

39. वरनाल्ड वोसाके (1974) तर्कशास्त्र और ज्ञान की आकारिका, हिम्मत सिंह सिन्हा (अनुवादक)हरियाणा हिन्दी ग्रंथ आकादमी चंडीगढ।

40. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे (1971) उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी गंथ आकादमी जयपुर।

41. जे. हास्पर्स (1974) दार्शिनिक विश्लेषण परिचय,गोवर्धन भट्ट (अनुवादक) - बिहार हिन्दी ग्रन्थ आकादमी, पटना।
42. एस. एन. दास गुप्त (1978) भारतीय दर्शन का इतिहास, कलानाथ शास्त्री (अनुवादक) राजस्थान हिन्दी ग्रंथ आकादमी जयपुर।
43. जार्जपेसमोर (1966) दर्शन के सौ वर्ष, चाँदमल शर्मा, कलानाथ शास्त्री (अनुवादक) राज. हिन्दी ग्रन्थ आकादमी जयपुर।
44. (डॉ.) अर्जुन मिश्र (1983) दर्शन की मुल धाराएं, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल।
45. वेदानंद (1973) शंकरोत्तर अद्वैत वेदांत में मिथ्टात्व निरूपण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ आकादमी जयपुर।
46. डॉ. अशोक कुमार लाड (1973) भारतीय दर्शन में मोक्ष चिंतन एक तुलनात्क अध्ययन, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल
47. डॉ. नंद किशोर देवराज (सम्पादक) (1975) भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ
48. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त (1973) भारतीय दर्शन का इतिहास, एम. पी. व्यास(अनुवादक) राज. हिन्दी ग्रंथ आकादमी जयपुर
49. विलियम अन्सर्ट हाकिंग (1974) दर्शन के प्रकार, रमेशचन्द्र (अनुवादक) राज.हिन्दी ग्रंथ आकादमी जयपुर
50. ए.ई. टेलर (1967) तत्वमीमांसा, सुधीन्द्र वर्मा (अनुवादक) हिन्दी समिति सूचना विभाग लखनऊ
51. गोविन्द चन्द्र पाण्डे (1973) मूल्य मीमांसा, राज. हिन्दी ग्रन्थ आकादमी जयपुर
52. डॉ. ब्रजनारायण शर्मा (1973) भारतीय दर्शन में अनुमान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल
53. डॉ. शिवनारायण लाल श्रीवास्तव (1981) दर्शन के मूल प्रश्न, मध्य प्रदेश हिन्दी आकादमी भोपाल
54. आचार्य वेद प्रकाशानन्द जी महाराज (1986) ईश्वर की खोज, प्रेम प्रकाश मंदिर वाराणसी
55. पॉलरुविचेक (1983) अस्तित्ववाद पक्ष और विपक्ष, डॉ. प्रभाकर माचवे (अनुवादक) म.प्र. हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल
56. डॉ. वैजामिन खान (1973) समसामायिक वस्तुवाद, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल
57. विलियम जोरू(1972) प्रयोजनवाद, रमेश चन्द्र (अनुवादक) राज.हिन्दी ग्रंथ आकादमी जयपुर
58. शिवकुमार मिश्रा (1978) यथार्थवाद , मेंकमिलन कं. इ. लिमिटेड

59. सी. टी. मार्गन (1971) मनोविज्ञान, डॉ. निर्मल शर्मा(अनुवादिका) बिहार हिन्दी ग्रंथ आकादमी पटना
60. डॉ. कृष्णकुमार जसुआर (1973) मनोविज्ञान की रूपरेखा, बिहार हिन्दी ग्रंथ आकादमी पटना
61. जे. वी. राइन (1973) मन के नये क्षितिज, ब्रजवासी लाल (अनुवादक) म. प्र. हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल
62. डेविड ह्यूम (1977) मानव प्रकृति एक अध्ययन, डॉ. हेमचन्द्र सिंह सिन्हा (अनुवादक) हरियाणा हिन्दी ग्रंत आकादमी चंडीगढ़
63. डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्रा (2007) विकासात्मक मनोविज्ञान, यूनीवर्सिटी बुक हाउस जयपुर
64. डॉ. ओ. पी. शर्मा (2007) मनोविकृति विज्ञान रितू पब्लिकेशन्स, जयपुर
65. रामऋषि त्रिपाठी (1969) प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, आगरा विश्वविद्यालय आगरा
66. डॉ. एस. एस. माथुर (1976) समाज मनोविज्ञान (प्रारम्भिक अध्ययन) आगराविश्वविद्यालय आगरा
67. डॉ. शारदा प्रसाद वर्मा (1972) विकास मनोविज्ञान मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ आकादमी भोपाल
68. रामबाले सिंह (1960) समाज मनोविज्ञान मोतीलाल बनारसीदास पुस्तक प्रकाशन बाँकीपुर पटना
69. फिलिप ई. वर्नन- मूल लेखक, सुमन माथुर -अनुवादिका (1980) - मानवीय योग्यताओं की संरचना(The Structure of Human Ability), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकेडमी, जयपुर।
70. श्याम स्वरूप जलोटा (1975)- मनोविज्ञान के प्रायोगिक क्षेत्र, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकेडमी, जयपुर।
71. आचार्य श्री धर्मभूषण महाराज-(2007) जैन दर्शनसार- (सम्पादक) डॉ. नरेन्द्र जैन, डॉ. नीलम जैन – प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन समिति, कविनगर गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
72. आचार्य वसुनन्दी विरचित(2006) वसुनन्दी श्रावकाचार – व्याख्याकार- आचार्य सुनील सागर- सम्पादक- प्रो.. भागचन्द जैन भास्कर, प्रतिष्ठाचार्य- विमल कुमार सौरया , प्रकाशक हिन्दी गंथ कार्यालय हीरीबाग, सी. वी. टेंक मुम्बई-4
73. संकलन कर्ता –आचार्य श्री संभव सागर जी महाराज,(1983) धवलासार- प्रकाशक श्री108 आचार्य श्री संभव सागर ग्रंथमाला मुम्बई
74. आचार्य कल्प(1967) मोक्षमार्ग प्रकाशक, प. टोडरमल जौन- भषा परिवर्तन- मगन लाल जौन, सम्पादक व प्रकाशक – डॉ. हकुमचन्द भरिल्ल, प. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर

75. स्वामी कुमार विरचित- (1090) कार्तिकेयानुप्रेक्ष(कार्तिकेयाणुवेक्खा) अनुवाजक- प. कैलाश चन्द्र शास्त्री, प्रकाशक श्री परमश्रुत परमागम मंडल, श्रीमद राजचन्द्र आश्रम , आगास
76. श्रीयति बृषभाचार्य विरचिता (1986) तिलोयपण्णति (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) , टीकाकत्री – आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी, सम्पादक ,डॉ. चेतन प्रकाश शास्त्री, प्रकाशन विभाग श्री भारतीय दिगम्बर जैन महासभा
77. श्रीमद योगेन्दु देव विरचित- (1972) परमात्मप्रकाश योगसार, अनुवादक प. जगदीश चन्द्र प्रकाशक- श्री परमसुख प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास
78. श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित (1992) स्याद्वाद मंजरी, अनुवादक डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, प्रकाशक- श्री परमसुख प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास
79. पं. चंपालाल जी विरचित(2003) चर्चासागर, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वतपरिषद
80. रचनाकार- आर्यिका विशुद्धमती माताजी(1994) निशुद्धसमाधिसाधना, सम्पादक – प्रो, टीकम चन्द्र जैन, श्री 1008 चंवलेश्वर पार्श्वनाथ दिगम्बर अतिशय क्षेत्र, चैनपुरा भीलवाडा।
81. रचनाकार- आर्यिका अभयमती माताजी (2006) आत्मानुशासन सरस काव्यावली- दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर
82. श्रीमद मृतचन्द्राचार्य विरचित(1977) परु,र्थसिद्धियुपाय, प्रकाशक- श्री परमसुख प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास
83. श्री अमृत चन्द्राचार्य विरचित (वि. स.2033) पुरुषार्थसिद्धियुपाय, सम्पादकृ विद्याकुमार सेठी, प्रकाशक दिगम्बर जैन समाज कुचामन सिटी
84. श्रीमद देवनंदी, अपरनाम पूज्यपाद स्वामी विरचित (वीर नि. सं. 2480) इष्टोपदेश, संस्कृत टीकाकार पं. आशाधर जी, हिन्दी टीकाकार ,- ब्र.शीतल प्रसाद, प्रकाशक- श्री परमसुख प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास
85. श्रीमदनेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती रचित(1992) लब्धिसार, भाषाटीका, पं. टोडरमल जी, सम्पादक पं. फूलचन्द्र सिद्धांत शास्त्री, प्रकाशक- श्री परमसुख प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास
86. योगेन्दुदेव रचित- योगसार टीका- टीकाकार प्रो. शीतला प्रसाद जी, प्रकाशक – विनयदक्ष प्रकाशक अहमदाबाद
87. आचार्य अमितगति प्रणीत (1989) मरणकंडिका- अनुवादिका आर्यिका जिनमती जी, प्रकाशक, श्री नंदलाल मांगीलाल, डीमापुर (नागालेंड)
88. श्री सुधर्म सागर विरचित (1989) सुधर्मध्यान प्रदीप, हिन्दी अनुवादक – लालाराम शास्त्री, भारत वर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद, सोनागिर दतिया

89. मूलग्रंथकार- श्रीमत्पद्मनंदी आचार्य-(1994) श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका, हिन्दी अनुवादक पं. गजाधरलाल श्री देवसेनाचार्य विरचित (1981) - जैन न्यायशास्त्री, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर
90. आचार्य श्री ज्ञानभूषण जी महाराज(1984) आत्मानुचिंतन और ध्यानशतक, प्रकाशक दिगम्बर जैन समाज रेवाडी.
91. श्री देवसेनाचार्य विरचित (1981) तत्वसार संस्कृत टीका, पं. पन्नालाल जी चाँदसी, अनुवादक व सम्पादक पं. हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक, श्री सत्सुत सेवा साधनाकेन्द्र अहमदाबाद
92. आचार्य समतभद्र स्वामी रचित (वि. स. 2029) रत्नकांड श्रावकाचार
93. आचार्य पद्मनंती कृत (1996) पद्मनंदी पंचविंशति, सम्पादक व अनुवादक पं. बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रकाशक, दिगम्बर जैन वीर विद्यासंघ गुजरात
94. श्री कवि किशल सिंह विरचित (1985) क्रियकोष, हिन्दी अनुवादक पं. पन्नालाल जी, 8 परमसुख प्रभावक मण्डल राजचन्द्र आश्रम आगास
95. पद्मनंदी पंचविंशतिका प्रवचन (1977) प्रवक्ता मनोहर जी वर्णी सहजानंद महाराज, प्रकाशक खेमचन्द्र जैन सर्राफ मेरठ
96. श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित (1981) ज्ञानावर्ण- प्रकाशक- श्री परमसुख प्रभावक मण्डल श्रीमद राजचन्द्र आश्रम आगास
97. श्रीमद भगवद कुन्दकुन्दाचार्य विरचित (1601) समयसार, संस्कृत टीका- जयसेना चार्य, हिन्दी टीका ज्ञान सागर जी महाराज, दिगम्बर समाज अजमेर
98. रचनाकार- आचार्य कुन्दकुन्द (1977) समयसार, संस्कृत टीका श्रीमद अमृतचन्द्रसूरी, हिन्दी टीका सहजानन्द महाराज प्रकाशक प्रधानमन्त्री भा. वर्णी जैन साहित्यमंदिर मुजफ्परनगर
99. शुभचन्द्राचार्य विरचित (1977) त्रियोग से समाधि , संकलन, ज्ञानार्णव से, संकलनकर्ता कीर्तिधर नंदी महाराज, प्रस्तावना, पं. टीकमचन्द्र जैन, प्रकाशक – यूसुफ पार्क , ग्रीनपार्क नई दिल्ली
100. कवि मंगतराय कृत बारह भावना
101. जीव समास-अज्ञातपूर्वधर आचार्य विरचित, अनुवादक साध्वी श्री विद्युतप्रभाजी प्रधान सम्पादक- प्रो. सागरमल जैन
102. मुनि पुलकसागरजी- ग्रंथ प्रणेता- उमास्वामीजी- अर्हत गीता, पुलक जन चेतना मंच, नई दिल्ली।(सम्पादक- प्रो. टीकमचन्द जैन, प्रतिष्ठाचार्य, नई-दिल्ली)
103. श्रीमाणिक्यनन्दिस्वामि विरचित तथा क्षुल्लक शीतलसागर कृत संयोजित- परीक्षामुखम्(दिसम्बर,1998) प्रकाशक- श्री भरत कुमार बाबुसा जैन, अहिंसा मार्ग, देउलगाँवराजा-बुलढाणा(नहाराष्ट्र)

104. ब्र. शीतलप्रसादजी कृत एवं निहालचंद पण्डया सम्पादित- सहज सुख साधन, पं. सदासुख ग्रंथमाला वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, पुरानी मंडी, अजमेर।
105. डॉ. हुकमचंद भारिल्ल- बारह भावना एक अनुशीलन, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर।
106. आचारांग सूत्र-जैम श्वेताम्बर तेरापंथ महासभा, कलकत्ता
107. इष्टोपदेश- पूज्यपाद स्वामी, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली।
108. कषायपाहुड- भा. दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा।
109. णाण सूत्र- अभय देववृत्ति सहित, बम्बई।
110. विद्यानंदस्वामी- तत्त्वार्थ श्लोकवर्तिक
111. पं देवसेन- नयन चक्र, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।
112. योगीन्द्र देव- परमात्म प्रकाश।
113. आचार्य कुन्दकुन्द, अमृताचार्य व जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार-टीकाएं(1935) बम्बई।
114. पुरूषार्थसिद्धयुपाय- अमृताचार्य (1904) बम्बई।
115. महाबन्ध भाग 1-7 (1951), भारतीय ज्ञानपीठ।
116. भट्ट अकलंक कृत राजवर्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ।
117. षट्खण्डागम- धवला टीका भाग 1-16, डॉ. हीरालाल, सोलापुर।
118. समयसार- अहिंसा मन्दिर, दिल्ली।
119. सर्वार्थसिद्धि -पूज्यपाद स्वामी, भारतीय ज्ञानपीठ।
120. अनागार धर्मामृत- पं. आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ।
121. अष्टपाहुड- श्री कुन्दकुन्दाचार्य, शान्तिवीर नगर, महावीरजी।
122. अष्टसहस्री- विद्यानन्द स्वामी।
123. आत्मानुशासन- गुणभद्रस्वामी।
124. ज्ञानावर्ण- शुभचन्द्राचार्य, जीवरीज जैन ग्रंथमाला।
125. चारित्र पाहुड- माणिकचंद ग्रंथमाला, बम्बई।
126. चारित्रसार- शान्तिवीर नगर, महावीरजी।
127. दशभक्त्यादिसंग्रह- पूज्यपाद स्वामी, शान्तिवीर नगर, महावीरजी।
128. पद्मनंदिपंचविशतिका- आचार्य पद्मनन्दी
129. भगवती आराधना(1935)- बम्बई।
130. मूलाचार(1977)- वट्टकेर बम्बई।
131. यशस्तिलकचम्पू(1916) बम्बई।
132. रत्नकाण्ड श्रावकाचार- स्वामि समन्तभद्र।
133. लब्धिसार-क्षपणसार।
134. वसुनंदी-श्रावकाचार(1952), भारतीय ज्ञानपीठ।

135. पद्मपुराण- रविषेणाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ।

136. महापुराण- जिनसेन गुणभद्राचार्य, स्वाद्वाद ग्रंथमाला, इन्दौर।

137. स्वयम्भूस्तोत्र- समन्तभद्राचार्य।

138. अमर कोश- पं. अमरसिंह विरचित, निर्णयसागर मुद्रणालय।

139. गीर्वाण लघु कोश- क्षीरस्वामीकृत. जमशेदपुर।

140. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 1-4- क्षु. जिनेन्द्रवर्णीजी, भारतीय ज्ञानपीठ।

141. कठोपनिषद्- वसु. वी. डी. इलाहाबाद।

142. पातंजल योगदर्शन- लखनऊ वि.वि., लखनऊ।

143. महाभारत शान्तिपर्व- चित्रशाला प्रेस, पूना।

144. मुण्डकोपनिषद्- आनन्दाश्रम

145. मज्झिमनिकाय (1970)- महाबोधि सभा, सारनाथ।

146. योगवशिष्ठ और उनके सिद्धान्त- भीखमलाल आत्रेय, हिन्दू वि.वि. बनारस।

147. योगबिन्दु(1911)- हरिभद्रसूरि, भावनगर।

148. योगसार- अमितगति, सनातन जैन ग्रंथमाला, कलकत्ता।

149. वैशेषिकसूत्र

150. श्री मद्भागवत गीता

151. जैनधर्म- पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, चौरासी मथुरा।

152. भाव संग्रह- हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

153. भारतीय दर्शन- डॉ. एस. राधाकृष्णन् , दिल्ली।

154. भारतीय दर्शन में जैनधर्म का योगदान- डॉ. हीरालाल, भारतीय ज्ञानपीठ।

155. योग ग्रंथावली- आचार्य हरिभद्रसूरि।

156. चरचा शतक- पं. द्यानतरायजी छन्द 44 - गुणस्थानों से गमन।

157. प्रमुख जैन साहित्यकार- डॉ. प्रेमसुमन जैन व डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी, श्रुत सेवा निधि न्यास, फीरोजाबाद।

158. आध्यात्मिक समतावाद- आचार्य महाप्रज्ञ, जैन भारती, मासिक पत्रिका, अंक-5, मई-2008, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, गंगाशहर-बीकानेर।पृ. 31।

159. आन्तरिक विकास की प्रक्रिया- साध्वी कनकश्री, जैन भारती, मासिक पत्रिका, अंक-5, मई-2008, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, गंगाशहर-बीकानेर।पृ. 36।

लेखक विशे.....

डॉ. दीपा जैन का जन्म सन 1975 में अवागढ़ जिला एटा उ.प्र. में हुआ। स्नातक तक की समाजशास्त्र एवं शिक्षण विषय के साथ बी. आर. अम्बेडकर, विश्वविद्यालय, आगरा -उ.प्र. में ही पूर्ण की तथा मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर -राजस्थान से प्राकृत भाषा एवं जैन दर्शन में स्नात्कोत्तर उपाधि ग्रहण की। गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद-गुजरात के प्राकृत भाषा विभाग से "गुणस्थान का अध्ययन" विषय पर विद्यावाचस्पति की उपाधि हांसिल की है। इसके अलावा राष्ट्रीय सहकारी संघ के राष्ट्रीय सहकारी शिक्षा केन्द्र से सहकारिता प्रबंधन में डिप्लोमा प्राप्त किया है। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी और गुजराती भाषा की यथोचित समझ है। आपकी रुचि का क्षेत्र दार्शनिक-धार्मिक अभगमों का सामाजिक सरोकार अथवा मानवीय विकास दिशा मे शोध करना रहा है ताकि यह भली भांति प्रस्थापित किया जा सके कि हमारे समृद्ध परम्परागत ज्ञान-विज्ञान के भंडार मानव जीवन को सुखमय बनाने, सृष्टि को संरक्षित करने में अहम् भूमिका निभा सकते हैं। तदानुरूप वैयक्तिक-सामाजिक सम्पोषित विकास के प्रतिमानों पर अपेक्षित मानवीय मूल्य एवं व्यवहारों को शांतिपूर्ण समाज रचना की दिशा में स्थापित किया जा सके। इसी विषयवस्तु के इर्द-गिर्द आपने राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में कई शोध लेखों का प्रकाशन किया है तथा राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठियों में शोध-पत्र प्रस्तुत कर सक्रिय भागीदारी की है। वर्ष 2003 से जनसहभागिता विकास संस्थान, जयपुर (स्वैच्छिक संस्था) में सलाहकार के रूप में मानद सेवाऐं प्रदान कर रहीं हैं तथा जैन दर्शन के मनो-सामजिक पक्ष पर स्वतंत्र शोध व प्रलेखन में रत हैं।

प्रकाशित शोधपत्र-

1. "जैन दर्शन में गुणस्थान- प्राकृत भाषा साहित्य की मानव समाज को अप्रतिम भेंट" दीप शिखा- राजभाषा विशेषांक- नवम्बर, 2010, आठवां संस्करण भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ, नई दिल्ली पृष्ठ 17-21।
2. "गुणस्थान का अध्ययन"- शोध पत्र शोधादर्श मासिक पत्र, अंक मार्च-2011, ज्योति निकुंज चारबाग लखनऊ (उ.प्र.) में प्रकाशित, पृष्ठ- 43-52।
3. "सहकारी मूल्य और जैन दर्शन(जैन दर्शन परम्परा में निहित सहकारिता के प्रतिमान)" दीप शिखा- राजभाषा विशेषांक- 2011, नौवां संस्करण भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ, नई दिल्ली पृष्ठ 17-20।
4. "सहकारिता के जतन में गांधी के एकादश व्रतों की प्रासंगिकता" published in the journal सहकार संदर्श, वेमिनीकॉम, पूणे (महाराष्ट्र) अंक 47, संख्या-2 जुलाई – सितम्बर, 2012 में प्रकाशित पृष्ठ- 21-30 (ISSN-0302 – 7767)
5. "मनो सामाजिक स्थितियों के संचालन में लेश्याओं की भूमिकाः सम्पोषित-विकास की दृष्टि से एक विश्लेषण" शोधादर्श मासिक पत्र अंक- 76, नवम्बर2012- जनवरी,2013 ज्योति निकुंज चारबाग लखनऊ (उ.प्र.) में प्रकाशित, पृष्ठ- 97-100।
6. "योग परंपरा में वर्णित आध्यात्मिक विकास एवं गुणस्थान- भाग-1" श्रुत सागर, वर्ष-3, अंक - 6 कुल अंक 31, सितम्बर-2013 पृष्ठ 19-23 प्रकाशक- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, गांधीनगर
7. "योग परंपरा में वर्णित आध्यात्मिक विकास एवं गुणस्थान- भाग-2" श्रुत सागर, वर्ष-3, कुल अंक 32, सितम्बर-2013 पृष्ठ 71-77 प्रकाशक- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, गांधीनगर
8. "जैन दर्शन में निहित सम्पोषित जीवन शिक्षण के आयामहिन्दी ानव समुदाय को- संस्कृति की अनुपम दैन" दीप शिखा- राजभाषा विशेषांक- 2013, ग्यारहवां संस्करण भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ, नई दिल्ली पृष्ठ 20-25।
9. "सम्पोषित विकास हेतु सहकारी व्यवस्था में उद्यमिता का स्वरूपः गांधी विचारों की वर्तमान प्रासंगिता के आधार पर मूल्यांकन"- सहकार संदर्श, वेमिनीकॉम, पूणे (महाराष्ट्र) अंक 48, संख्या-3 अक्टूबर-दिसम्बर,2013 में प्रकाशित (ISSN-0302 – 7767)
10. "Value based Indian ethos and Sustainable growth of entrepreneurship (With the view of Gandhian ethical principles and sustainable entrepreneurial practices in rural area) एन.आई.सी.एम. बुलेटिन (त्रि-मासिक) (ISSN No. 2249-2275) गांधीनगर में स्वीकृत, प्रकाशन मार्च - जून 2014 के अंक मे.

संगोष्ठियों में प्रस्तुत पत्र-

1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा वित्तपोषित एवं ग्राम व्यवस्थापन अध्ययन केन्द्र, गूजारात विदयापीठ, ग्रामीण परिसर, रांधेजा-गांधीनगर (गुजरात) द्वारा 9-10 जनवरी,2012 में संपोषित ग्रामीण विकास प्रबंध के प्रतिमान विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में "सम्पोषित विकास के मनोवैज्ञानिक आधार एवं जैन दर्शन शांतिपूर्ण समाज की संरचना" पत्र की प्रस्तुति।

2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा वित्तपोषित एवं महादेव देसाई ग्राम सेवा महाविदायालय, गूजारात विदयापीठ, ग्रामीण परिसर, रांधेजा-गांधीनगर (गुजरात) द्वारा 9-10 फरवरी,2013 में परिवार एवं समुदाय विज्ञान के संपोषित प्रतिमान विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में "आरोग्य स्वराज लाने में सहायक जैन दर्शन" पत्र की प्रस्तुति।

प्रकाशनार्थ प्रेषित (2013) **-**

1. "गीता और गुणस्थान सिद्धान्त" send to Editor- Tulsi Prajna, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) LADNUN-341306

2. "गुणस्थान अवधारणा एवं बौद्ध दर्शन" send to Editor- JINAVANI, C/O Prof D. C. Jain, 3 K 24-25, Kudi Bhaktasani Huosing Board, JODHPUR-342005.

3. "श्रमण परम्परा और श्रावक" send to, Editor-SHRAMAN, Parshwnath Vidya Peeth I T I Road, Karomdi, BHU, VARANASI (U. P.)

4. "वर्ण व्यवस्था में निहित आध्यात्मिक विकास के प्रतिमान, श्रुत सागर, प्रकाशक- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, गांधीनगर को प्रकाशनार्थ प्रेषित।

5. "तत्त्वार्थसूत्र में निहित गुणस्थान के अभिगम की समीक्षा", send to Editor- Prakrit Vidya Kundkund Bharati, Prakrit Bhavan, Kakvariya Sarai, Near Qutub Hotel NEW DELHI.

6. "जैन दर्शन में वर्णित धर्म के दश लक्षणों का मानवीय विकास से सामाजिक सरोकार", शोधादर्श मासिक पत्र ज्योति निकुंज चारबाग लखनऊ (उ.प्र.) को ।

<u>**C.V.**</u>

Dr. Deepa Jain

Ph.D. (Prakrit & Jain Darshan)
Diploma in Cooperative Management

Career Objective -

Search and establish the dimensions of our indigenous, traditional, religious philosophical knowledge & wisdom, values & practices towards sustainable development of society. So it will make them able to survive the nature and maintain peaceful environment in their surrounding with the ethics of "live and let live" on humanity ground.

Personal Detail:

- Father's Name - Sh. Vijay Swaroop Jain
- Husband Name - Sh. Amitabh Jain
- Date of birth - 12-08-1975.
- Caste & Category - Jain General
- Nationality - Indian
- Marital Status - married
- Language Known - Hindi ,English, Rajasthani and Gujarati languages

- Email: dr.deepa_jain@yahoo.com
- Mob. 08929073311, 09427026647
- Address for Communication - c/o Dr. Lokesh Jain, Faculty-CSRM, Gujarat Vidyapith, Rural Campus- RANDHEJA-382620 Gandhinagar (Guajrat)
- Permanent Address - 73-74, Mahadev nagar, New Loha Mandi road Opp. V.K.I.A. road no. 14, JAIPUR-302 013(Rajasthan)

- Area Of Interest - Research and teaching in the area of socio-psycho aspect of sustainable development of society and through Jainology.

Academic Qualification:

- S.S.C. in 1992 from U.P. Hr.Sec. Allahabad with Arts.
- H.S.C. in 1994 from U.P. Hr.Sec.Meerut with Arts .
- B.A. in 1996 from B.R.Ambedkar University, Agra(U.P.) with Sociology.
- M.A. in 1999. From M.L.Sukhadia University, Udaipur with Prakrit and Jainology.
- Diploma in Cooperative Management of Three month duration from National Centre for Cooperative Education, N.C.U.I. New-Delhi-16 since October to December,2006.
- Ph.D. from Department of Prakrit Language, Gujarat University, Ahmedabad (Gujarat) The Topic is "Study in Gunsthan" awarded in 2010

Work Exposure

1. Honorary Research Associated & Consultant with an NGO "Institute for development of People's Participation (IDPP), Udaipur" in its Education and research Project at Jaipur since2003 to till date.
2. Free lancer Researcher working in the area of socio-psycho aspect of sustainable development of society and through Jainology.
3. Fundamental Knowledge of Computer Operating System.

Published papers-

1. "जैन दर्शन में गुणस्थान- प्राकृत भाषा साहित्य की मानव समाज को अप्रतिम भेंट" दीप शिखा- राजभाषा विशेषांक- नवम्बर, 2010, आठवां संस्करण भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ, नई दिल्ली पृष्ठ 17-21।
2. "गुणस्थान का अध्ययन"- शोध पत्र शोधादर्श मासिक पत्र, अंक मार्च-2011, ज्योति निकुंज चारबाग लखनऊ (उ.प्र.) में प्रकाशित, पृष्ठ- 43-52।
3. **"**सहकारी मूल्य और जैन दर्शन(जैन दर्शन परम्परा में निहित सहकारिता के प्रतिमान)**"** दीप शिखा- राजभाषा विशेषांक- 2011, नौवां संस्करण भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ, नई दिल्ली पृष्ठ 17-20।
4. "सहकारिता के जतन में गांधी के एकादश व्रतों की प्रासंगिकता" published in the journal सहकार संदर्श, COOPERATIVE PERSPECTIVE, vol.47 no.2 जुलाई – सितम्बर, 2012 issue at VEMINICOM, Pune (Maharastra) page: 21-0, ISSN-0302 – 7767

5. "मनो सामाजिक स्थितियों के संचालन में लेश्याओं की भूमिकाः सम्पोषित-विकास की दृष्टि से एक विश्लेषण" शोधादर्श मासिक पत्र अंक- 76, नवम्बर2012-जनवरी,2013 ज्योति निकुंज चारबाग लखनऊ (उ.प्र.) में प्रकाशित, पृष्ठ- 97-100।

6. "योग परंपरा में वर्णित आध्यात्मिक विकास एवं गुणस्थान- भाग-1" श्रुत सागर, वर्ष-3, अंक -6कुल अंक 31, सितम्बर-2013 पृष्ठ 19-23 प्रकाशक- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, गांधीनगर
7. "योग परंपरा में वर्णित आध्यात्मिक विकास एवं गुणस्थान- भाग-2" श्रुत सागर, वर्ष-3, कुल अंक 32, सितम्बर-2013 पृष्ठ 71-77 प्रकाशक- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, गांधीनगर
8. **"जैन दर्शन में निहित सम्पोषित जीवन शिक्षण के आयाम मानव समुदाय को - हिन्दी संस्कृति की अनुपम दैन" दीप शिखा- राजभाषा विशेषांक- 2013, ग्यारहवां संस्करण भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ, नई दिल्ली पृष्ठ 20-25।**

Seminars & Workshop:

Papers presented in the Seminars

1. "Psychological dimensions of Sustainable Development and Jain Philosophy(towards Peaceful Society) " सम्पोषित विकास के मनोवैज्ञानिक आधार एवं जैन दर्शन (शांतिपूर्ण समाज की संरचना) paper presented in National Seminar on Dimensions of Sustainable Rural Development Management at Centre For Studies in Rural Management, Gujarat Vidyapith, rural Campus-RANDHEJA –Gandhinagar during 9-10 January,2012.
2. "आरोग्य स्वराज लाने में सहायक जैन दर्शन" paper presented in National Seminar on Sustainable Dimensions of Family and Community Science at Department of Home Science, M.D. College, Gujarat Vidyapith, rural Campus- RANDHEJA –Gandhinagar during 9-10 February,2013.

Paper under publication (With acceptance)-

1. "Value based Indian ethos and Sustainable growth of entrepreneurship (With the view of Gandhian ethical principles and sustainable entrepreneurial practices in rural area) by. Dr. Deepa Jain & Dr. Lokesh Jain send to NICM Bulletin(ISSN No. 2249-2275) -A Quarterly journal issued at NICM, Gandhinagar (Gujarat). It will be published in January , 2014 issue.

2. "सम्पोषित विकास हेतु सहकारी व्यवस्था में उद्यमिता का स्वरूपः गांधी विचारों की वर्तमान प्रासंगिता के आधार पर मूल्यांकन"- द्वारा डॉ. दीपा जैन एवं डॉ. लोकेश जैन send for publication in COOPERATIVE PERSPECTIVE, at VEMINICOM, Pune (Maharashtra),(ISSN-0302 – 7767). It will be published in vol. 48 No. 3, Oct. – Dec 13 issue.

Paper communicated for publication during this year(2013) -

1. "गीता और गुणस्थान सिद्धान्त" send to Editor- Tulsi Prajna, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) LADNUN-341306
2. "गुणस्थान अवधारणा एवं बौद्ध दर्शन" send to Editor- JINAVANI, C/O Prof D C Jain, 3 K 24-25, Kudi Bhaktasani Huosing Board, JODHPUR-342005.
3. "श्रमण परम्परा और श्रावक" send to, Editor-SHRAMAN, Parshwnath Vidya Peeth I T I Road, Karomdi, BHU, VARANASI (U. P.)
4. "वर्ण व्यवस्था में निहित आध्यात्मिक विकास के प्रतिमान, श्रुत सागर, प्रकाशक- आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, गांधीनगर को प्रकाशनार्थ प्रेषित।
5. "तत्त्वार्थसूत्र में निहित गुणस्थान के अभिगम की समीक्षा", send to Editor- Prakrit Vidya Kundkund Bharati, Prakrit Bhavan, Kakvariya Sarai, Near Qutub Hotel NEW DELHI.
6. "जैन दर्शन में वर्णित धर्म के दश लक्षणों का मानवीय विकास से सामाजिक सरोकार", शोधादर्श मासिक पत्र ज्योति निकुंज चारबाग लखनऊ (उ.प्र.) को प्रकाशनार्थ प्रेषित।

References-

Dr. Dina Nath Sharma Faculty- Prakrit language Department Gujarat University, Ahmedabad (Gujarat) Mob. 09428245944	Dr. Jinendra Jain Faculty- Jainology & Prakrit ML Sukhadiya Uni, Udaipur (Rajasthan) mob. 09214864212	Dr. Gulab Singh Azad Director- NCCE - NCUI, 3 siri institutional area August kranti marg New- Delhi-16 Mob.09990411255

(Dr. Deepa Jain)